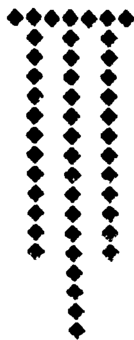
लेखनी उठाने के पूर्व

या

लेखक-बन्धु



१९४०

लेखनी उठाने के पूर्व

या

लेखक-बन्धु

लेखक

सत्यजीवन वर्म्मा, एम० ए०

[श्रीभारतीय]

प्रकाशक

'लेखक' कार्य्यालय, शारदा-प्रेस,

प्रयाग

'लेखक' ग्रन्थमाला—१

प्रथम संस्करण
मूल्य डेढ़ रुपया

मुद्रक,
शारदा-प्रेस, प्रयाग

दो शब्द

हिन्दी में लेखन-कला सम्बन्धी साहित्य की जो कमी है वह किसी से छिपी नहीं है। इसी कमी की पूर्ति के लिए 'लेखक-संघ' ने 'लेखक' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया था। 'लेखक' के सम्पादन और संचालन का भार मेरे ही ऊपर था। दो वर्षों में समय-समय पर 'लेखक' में लेखन-कला तथा पत्रकार-व्यवसाय सम्बन्धी मेरे अनेक लेख प्रकाशित होते रहे। प्रस्तुत पुस्तक में मेरे उन्हीं लेखों में से कुछ संग्रहीत हैं। आशा है इस संग्रह से हमारे नवयुवक लेखक-बंधु उचित लाभ उठावेंगे। यह पुस्तक 'लेखक-ग्रन्थमाला' की प्रथम पुस्तक है। यदि इसे पाठकों ने अपनाया तो इस प्रकार की अन्य पुस्तकों के प्रकाशन में हमारा उत्साह बढ़ेगा।

इस संग्रह में 'प्रूफ़ संशोधन' नामक लेख मेरे मित्र तथा 'लेखक' के सहयोगी संपादक श्री महेन्द्रनाथ पाण्डेय की रचना है। उसे उधृत करने के लिए हम उनके आभारी हैं। श्रीपाण्डेय जी ने सदा की भाँति मुझे प्रस्तुत संग्रह—'लेखनी उठाने के पूर्व'—में भी काफ़ी सहायता पहुँचाई है। इसके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं।

प्रयाग
१२-८-४०

—श्रीभारतीय

विषय-सूची

१

लेखनी उठाने के पूर्व

लेखनी उठाने के पूर्व हमें लेखन-कला के विषय में कुछ ज़रूरी बातें जान लेना आवश्यक है। यह न समझिए कि केवल हिन्दी-भाषा-भाषी होने के नाते कोई भी व्यक्ति हिन्दी में लेखक बन सकता है। यों अपनी भाषा में टूटे-फूटे शब्दों में यदि आपने अपने विचार प्रकट ही कर दिये तो कोई बड़ी बात नहीं हुई। लेखक वही होगा जो लेखन-कला के सिद्धान्तों के अनुसार अपने विचारों को लिपिबद्ध करने में समर्थ हो।

प्रश्न उठता है, लेखन-कला क्या है? इसका उत्तर जितना आसान है उतना उस कला की प्राप्ति नहीं। कहने को लेखन-कला से तात्पर्य्य है—'अपने विचारों को ठीक-ठीक लिख सकने की योग्यता'। परन्तु यह योग्यता—यदि सचमुच हम पूर्णरूप से प्राप्त करना चाहें तो—कितना कठिन कार्य है। यदि आप संसार के नामी और सफल लेखकों के वृत्तान्त पढ़ सकें तो आपको मालूम होगा कि अपनी कला में सफलता प्राप्त करने के पूर्व उन्होंने कितना परिश्रम किया था। सफलता का मार्ग कभी इतना सुगम नहीं रहा।

लेखनी उठाने के पूर्व

हिन्दी-जगत में लेखक बनने की अभिलाषा बढ़ती ही जा रही है। यह हमारी भाषा के लिए शुभ लक्षण है, परन्तु साथ ही साथ हमें इस बात को स्मरण रखना चाहिए कि केवल हमारी रचनाओं के टाइप में छप जाने मात्र से हम लेखक-पद को नहीं प्राप्त हो सकेंगे। लेखन-कला एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। लेखक का पद एक गौरव-पूर्ण और उत्तरदायित्व से लदा हुआ पद है। लेखक बनने के लिए परिश्रम और अभ्यास की अपेक्षा है। केवल भाषा-प्रेम, लिखने का उत्साह और छपाने की धुन से काम नहीं चलेगा। अतः लेखनी उठाने के पूर्व हमें यह जान लेना उचित है कि लेखन-कला के साधारण नियम क्या हैं—लेखक बनने के लिए हमें कम-से-कम क्या होना चाहिए।

लेखन-व्यवसाय अंगीकार करने के पूर्व हमें यह समझ लेना चाहिए कि हमारे व्यवसाय में केवल शब्दों और वाक्यों की सब से अधिक दरकार है। यदि ये हमारे पास नहीं तो हम अपने विचार कैसे प्रकट करेंगे? शब्द और वाक्य ही हमारे विचार को प्रकट करने के माध्यम हैं। अतः लेखक बनने की इच्छा रखनेवाले को सर्व-प्रथम अपनी भाषा का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। यह न समझिए कि हिन्दी हमारी मातृभाषा है अतः हम उसमें बोलने के अतिरिक्त लिखने के भी अधिकारी हैं। बोल-चाल के अतिरिक्त हमारी भाषा का एक साहित्यिक रूप

भी है जिससे पूर्णरूप से अवगत होना परम आवश्यक है। हमारी भाषा में यद्यपि अभी कोई ऐसा कोष नहीं जिसमें हिन्दी के समस्त शब्द वर्तमान हो; परन्तु फिर भी वर्तमान साहित्य के अध्ययन से हम बहुत कुछ अपनी भाषा का व्यापक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। भाषा-ज्ञान के लिए निरन्तर अध्ययन की बड़ी आवश्यकता है। बार-बार पढते रहने से शब्दो का ठीक-ठीक अर्थ हम ग्रहण कर लेते है और उनका उचित प्रयोग भी हमें करना आ जाता है। शब्दो का ठीक-ठीक अर्थ जानना उनकी शक्ति का पूर्ण ज्ञान रखना—लेखक के लिए बड़े काम की वस्तु है। लेखक बनने की इच्छा रखते ही प्रथम हमें अपने शब्द-भण्डार को बढ़ाना चाहिए और उनकी 'शब्द-शक्ति' से अवगत होना चाहिए। जितना ही विस्तृत हमारा शब्द-ज्ञान होगा—जितना ही हमें उनकी शक्ति का ज्ञान होगा उतनी ही सफलता और सुन्दरता से हम अपने विचारो को लिपिबद्ध कर सकेंगे।

शब्दो और वाक्यो का प्रयोग करते समय हमे सतर्क रहना चाहिए जिसमें हम अनजान मे किसी भी शब्द का व्यर्थ प्रयोग न कर बैठे। अनावश्यक शब्दो का प्रयोग हमारी रचना में शैथिल्य ला देता है। यदि थोड़े शब्दों मे लेखक अधिक विचार प्रकट कर सकता है तो उसे ही लोग सफल लेखक समझते हैं।

प्राचीन कवियों को लीजिए। सूर, तुलसी, विहारी अथवा संस्कृत में कालिदास, भास वा वाल्मीकि आदि ही को अपनी भाषा पर कितना प्रभुत्व था। एक शब्द व्यर्थ लिखना उनके लिए असम्भव था। यही कारण है कि उनकी रचनाएँ पढ़ते ही उनके विचार सीधे हृदय तक पहुँचते हैं। अतः भाषा-ज्ञान के साथ-साथ लेखक को लिखते समय अपने प्रत्येक शब्द और वाक्य पर भली भाँति नियंत्रण रखना उचित है। यह कैसे होगा ?

लिखते समय प्रायः ऐसा होता है कि हमारे विचार हमें लिख चलने पर विवश करते हैं और हम लिखते ही चले जाते हैं। परन्तु उन्हें पढ़ने पर हमें अपनी कमी दिखायी पड़ती है कि हमने बड़ी शिथिल भाषा लिखी, कितने व्यर्थ शब्द प्रयुक्त किये, कितनी बार पुनरुक्ति का अपराध किया। अब प्रश्न होता है ऐसा क्यों हुआ ? इसका उत्तर प्रसिद्ध लेखक विलियम फ्रीमैन ने यों दिया है। आप कहते हैं—

"मेरे विचार से ऐसा दो कारणों से होता है। प्रथम यह कि अनुभव-रहित लेखक इसका बिलकुल ध्यान नहीं रखता कि लेखनी उठाने के पूर्व उसे कितना सोचने की आवश्यकता है। वह इस बात का ध्यान नहीं रखता कि लिखने के पहले उसे अपने सारे विचारों को श्रृङ्खलाबद्ध करना उचित है और अपने मस्तिष्क में उन्हें आरम्भ से

अन्त तक क्रम से सोच कर बैठा लेना चाहिए था। यदि ऐसा हो सके तो लेख को बार-बार लिखना और फाड़ना न पड़े। दूसरी बात यह है कि लेखक अपनी कल्पना-शक्ति से उन सारी बातों का प्रत्यक्षीकरण नहीं कर लेता जिसे उसे लिखना है। उसे सोचते हुए आलस लगता है और वह इससे बचने के लिए केवल शब्दों के आडम्बर मात्र से चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न करता है। इसका फल यह होता है कि उसकी वर्णित घटनाएँ न रोचक हो पाती हैं और न पाठक उन्हें पढ़कर कोई काल्पनिक चित्र ही अपने मन में बना पाते हैं। अतः वे उसे पढ़ना व्यर्थ समझते हैं। इसी में लेखक की असफलता होती है। सफल लेखक वही हो सकता है जिसकी रचनाएँ पढ़कर पाठक अपने मन में कुछ समझ सकें, अन्यथा वे अपना समय क्यों खोने लगें।"

लेखक अपने विचारों को स्पष्ट और हृदयंगम कराने के लिए अलंकारों का प्रयोग करता है। प्राचीन समय में काव्य में अलंकारों का एक विशेष स्थान था। बोल-चाल की भाषा में हम नित्य अलंकारों का प्रयोग करते रहते हैं। अलंकारों का उपयोग केवल विचारों को शीघ्र हृदयंगम करने में सुविधा उपस्थित करने तथा हृदय पर उनका उचित प्रभाव उत्पन्न करने मात्र में है। अतः अलंकारों का बहिष्कार उचित नहीं। परन्तु साथ-ही-साथ यह

सदा ध्यान में रखना चाहिए कि यदि अलंकारों का ठीक प्रयोग नहीं हुआ तो अर्थ का अनर्थ हो सकता है। अतः अलंकारों का प्रयोग करते समय उन्हें ठीक तौर से समझ कर प्रयोग करना उचित है। लेखक को 'अलंकार' का साधारण ज्ञान होना परम आवश्यक है। और इससे अधिक आवश्यक है उसे इस बात के स्मरण रखने की कि बिना समझे हम किसी अलंकार का प्रयोग नहीं करेंगे। बिना समझे कुछ भी लिखना ठीक नहीं। जिस शब्द, अलंकार अथवा वाक्य के विषय में आपको संदेह हो तुरन्त उसे मिटा लीजिए। यदि सन्देह नहीं मिट सका हो तो उसे कभी न लिखिए। सम्भव है अनजान में वे आपकी रचना के उद्देश्य पर पानी फेर दें—आपके आशय के विरुद्ध भाव व्यक्त कर बैठें।

शब्द-भण्डार, शब्दशक्ति, अलंकार आदि के साथ-साथ वाक्य-रचना पर भी ध्यान देना सफल लेखक के लिए परमावश्यक है। वाक्य वे ही हों जो हमारे विचारों को पूर्णरूप से व्यक्त करें। इसके लिए कोई नियम नहीं बनाया जा सकता। साधारणतया व्याकरण के अनुसार वाक्य में कर्ता, क्रिया आदि होनी चाहिए। परन्तु यदि एक शब्द सम्पूर्ण भाव को प्रकट कर सके तो उसे भी वाक्य ही समझना ठीक है। लेखक को सब से पहले इस पर ध्यान रखना चाहिए कि उसके वाक्य अपने पूरे भाव को

व्यक्त करने में समर्थ हैं वा नहीं। यदि हैं तो वे ठीक हैं। प्रत्येक लेखक अपनी विशेप शैली के अनुसार छोटे-बड़े वाक्य लिखता है तथा उनमें वाक्यांशो का क्रम रखता है। इसी में उसका व्यक्तित्व है। अतः वाक्यो का छोटा अथवा बड़ा होना व्यक्तिगत उस लेखक के ऊपर निर्भर है। हाँ, इस बात का अवश्य सभी को ध्यान रखना होगा कि उसके वाक्यो में स्वाभाविक रूप से प्रवाह हो और वे पाठको की समझ में अच्छी तरह आ जायँ। एक समय था जब संस्कृत साहित्य में गद्य-काव्य में वाण की शैली भी प्रचलित थी। परन्तु ऐसी शैली सर्वप्रिय नहीं हो सकी। हिन्दी में भी कभी इस शैली की नकल की जाती थी। परन्तु इस समय तो वाक्य-रचना जितनी ही सरल, स्वाभाविक और शीघ्रता से समझ में आ सकनेवाली हो उतनी ही वह अच्छी समझी जाती है।

लेखक को अपनी रचना को पूर्ण रूप से सुबोध बनाने के लिए उसमें यथास्थान विराम चिह्न भी लगाना उचित होता है। विराम चिह्नों का प्रचार पहले उतना नहीं था, परन्तु मुद्रण-यंत्रो के प्रचार के साथ-साथ तथा अंग्रेज़ी की देखा-देखी हिन्दी मे भी विराम-चिन्हो का प्रयोग बहुतायत से होने लगा है। यह अच्छा ही हुआ। यदि हमें अपनी भाषा को आधुनिक युग के काम की बनानी है तो हमें दक़ियानूसी विचारों को छोड़ना पड़ेगा। विराम-चिह्नो के

विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना लेखक के लिए आवश्यक है। परन्तु लेखक को कुछ विशेष विराम-चिह्नों के विषय में अधिक सावधान रहना चाहिए, जैसे विस्मयसूचक चिह्न (!)। देखा जाता है कि आजकल हिन्दी के लेखक इस चिह्न का बड़ी लापरवाही से प्रयोग कर बैठते हैं। यह चिन्ह वहीं काम में आता है जहाँ आश्चर्य, विस्मय, भय आदि का प्रदर्शन अभीष्ट होता है अथवा जहाँ इच्छा, आशा अथवा प्रार्थना व्यक्त करनी होती है। अतः इस चिह्न का बड़ी सावधानी से प्रयोग करना चाहिए। यह नहीं कि केवल 'सनसनी' की इच्छा से जहाँ चाहा इस चिह्न (!) का प्रयोग कर दिया। यदि यह चिह्न सोच-विचार कर काम में नहीं लाया जायगा तो आप की रचना को यह उपहास्य बना देगा और उसकी गम्भीरता और महत्त्व को हलका कर देगा।

दूसरा चिह्न प्रश्नसूचक (?) है, जिसके विषय में भी सावधान रहना चाहिए। यह देख लेना चाहिए कि हमारे वाक्य का तात्पर्य्य प्रश्न से है वा नहीं। यदि है तो इस चिह्न का प्रयोग उचित है। केवल सम्बोधन करते समय इसका प्रयोग व्यर्थ है। ऐसे अवसर पर (!) का प्रयोग होना चाहिए। इसके अतिरिक्त हिन्दी में 'डैस' (—) का भी प्रयोग अधिक मात्रा में होने लगा है। 'डैश' या 'लोप-चिह्न' वहाँ काम में आता है जहाँ विचार-धारा में

कोई रुकावट, वा गतिरोध अथवा परिवर्तन उपस्थित होता है। जहाँ तक हो लोप-चिह्न (—) का प्रयोग कम करना चाहिए। अधिक प्रयोग से वाक्य के संगठन में शिथिलता आ जाती है।

अवतरण चिह्नों (" ") का भी प्रयोग उचित रूप से न होने पर रचना की सुन्दरता जाती रहती है। इसी प्रकार साधारण रूप से विराम-चिह्नो के प्रयोग का अच्छा ज्ञान लेखक को पूर्व ही प्राप्त कर लेना उचित है। संक्षेप मे लेखनी उठाने के पूर्व लेखक को लेखन-कला के ये साधारण नियम जान लेना परम आवश्यक है। इसे लेखन-कला का 'अइउण्' समझना चाहिए। परन्तु लेखक को अपनी कला मे सफलता प्राप्त करने के लिए सदा प्रयत्न-शील होना उचित है। इस हेतु उसे स्वतः अनुभव प्राप्त करना पड़ेगा और इसके लिए निरन्तर उसे अध्ययन, चिन्तन और लेखन का अभ्यास करना आवश्यक है।



२

हम किस पर लिखें ?

लेखक के नाते हाथ में लेखनी लेते ही पहले सामने यही प्रश्न उपस्थित होता है कि हम किस पर लिखें ? इस प्रश्न पर विचार करने के लिए जैसे हमारे पास समय नहीं रहता और हम केवल क्षणिक प्रसंशा या सामयिक रुचि के वशीभूत होकर लिख चलते हैं और तब तक लिखते रहते हैं जब तक कोई साहित्य का शुभचिंतक हमारी रचनाओं पर आक्षेप कर हमें सचेत नहीं करता। उस समय अपनी कृति के प्रति अपने राग के कारण, हम उसके औचित्य के विषय में अनभिज्ञ होते हुए भी, कभी-कभी अपने आलोचकों के उद्देश्य पर आक्रमण कर अपनी रक्षा करना चाहते हैं। परन्तु यह धोके की टट्टी कितने दिनों तक ठहरती है। फलतः हम एक दिन अपनी कृति से कमाई हुई प्रशंसा की सारी निधि खो बैठते हैं और इतना ही नहीं दण्डस्वरूप हमें साहित्य क्षेत्र से बहिष्कृत भी होना पड़ता है। अतः यह सर्वथा उचित और आवश्यक है कि कलम उठाने के पूर्व हम पहले इस पर अच्छी तरह विचार कर लें कि हम किस पर लिखें ?

हम किस पर लिखें ?

हम किस पर लिखे ? यही सबसे कठिन प्रश्न हमारे सामने इस समय उपस्थित है। यह प्रश्न उतना कठिन नहीं रहता जितना हम इसे बना रहे हैं। परन्तु इसके पूर्व हमें अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान होना आवश्यक है। हम लेखक क्यों बनने जा रहे हैं, हम लिखते क्यों हैं, हमारे लिखने की आवश्यकता क्यों है, यदि हम चुप रहें तो क्या हानि है,—इत्यादि प्रश्न यदि हम अपने से करें, तो हमे अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान हुए बिना नहीं रह सकता। क्षण भर के लिए आप सोचे—आप क्यो लेखक बनने जा रहे हैं ? दो ही कारण हो सकते हैं—स्वार्थ या परमार्थ। यदि आप उदरपोषण के लिए लिखने-पढ़ने का व्यवसाय अंगीकार करते हैं तो भी आपको स्मरण रखना चाहिए कि आपकी गंदी चीज़ और माल बाज़ार में कितने दिनों ग्राहकों को धोका देता रहेगा। क्या आप समझते हैं आप भ्रम मे पड़े हुए—भूले पाठको की कम-ज़ोरियों और कुरुचि-पूर्ण साहित्यिक कुतूहल का अधिक समय तक लाभ उठा सकते हैं ? माना कि कुछ समय के लिए आप की चीज़ की माँग बढ़ गई। परन्तु क्या आप समझते हैं कि संसार में केवल कलाल का व्यवसाय ही सर्वश्रेष्ठ समझा जावेगा ? और ऐसा कौन सा समय चिरस्थाई रहा है जब केवल शराब-बेचनेवाले ही सदा सर्वोपरि रहे हो। जीवन-शक्ति का विनाश करनेवाली वस्तु

अधिक दिनों तक कैसे जीवित रहेगी। वह तो मूर्ख की भांति डाल पर बैठ कर उसी का विनाश करने का प्रयत्न करती रहती है। फिर वह कैसे सुरक्षित रह सकती है ? ऐसी दशा में स्वार्थ कैसे सिद्ध होगा, इसे सोचिए तो !

यदि हम परमार्थ के नाम पर लिखते हैं—यद्यपि हम समाज में रहते हुए 'परमार्थ' ऐसे शब्द की कल्पना करने में बिल्कुल असमर्थ हैं। हमारा तो मन्तव्य है कि परमार्थ भी स्वार्थ का एक सभ्य और सुसंस्कृत रूप है। यदि हम समाज में रह कर दूसरों की भलाई करते हैं तो क्या हम दूसरों के द्वारा की हुई भलाई का लाभ नहीं उठाते ? सच बात यह है कि परमार्थ भी स्वार्थ ही से प्रेरित होकर किया जाता है। अंतर केवल इतना ही होता है कि एक के प्रतिफल के तुरन्त मिलने की अभिलाषा रहती है दूसरे का प्रतिफल कुछ समय बाद मिलता है। एक सीधा सौदा है दूसरा सभ्य समाज का मनुष्योचित व्यवहार। ऐसी दशा में यदि हम परमार्थ से प्रेरित होकर साहित्य की सृष्टि करने से हिचकते हैं तो हम निश्चय अपने स्वार्थ के प्रति विमुख हो रहे हैं। हाँ, यदि हम परमार्थ से प्रेरित होकर लेखनी हाथ में लेते हैं तो भी हमारा उत्तरदायित्व हलका नहीं हो जाता। यह न सोचिए कि उपदेश देना मात्र ही परमार्थी लेखकों के धर्म की इतिश्री है।

हमारे लिए अब स्वार्थ और परमार्थ का प्रश्न समान

सा हो गया है। दोनों में अपना ही लाभ है। केवल नामकरण का भेद रह गया। अब प्रश्न यह है कि हम क्यों लिखते हैं? संसार के अन्य व्यवसायों या व्यापारों में लेखन-कला को सर्व-प्रधानता क्यों दी गई? इसीलिए कि इसका संबन्ध संसार के किसी स्थूल पदार्थ से न होकर हमारे विचारों से है जिनकी कोई सीमा नहीं, रूप नहीं, रंग नहीं। वे यदि प्रकट होते हैं तो लेखक ही द्वारा और लिपिबद्ध होकर ही वे सर्वसाधारण तक पहुँच सकते हैं। प्राचीन काल की कला-कौशल के ध्वंसावशेष तो नष्ट होते-होते भी अभी कुछ-कुछ कहीं दिखाई पड़ जाते हैं, परन्तु प्राचीन काल में मनुष्य क्या सोचता था, संसार का उसने क्या अनुभव किया था, उसे क्या समझा था—इसका प्रमाण यदि साहित्य में न हो तो हमें अन्यत्र कहाँ मिल सकता है? यही कारण है कि साहित्य समाज की मनोवृत्ति का स्थूल रूप माना गया है। साहित्य ही के द्वारा हम किसी समाज के हृदय को पहचान सकते हैं। हमारे लेखों ही के द्वारा आगे चलकर लोग हमारे इस 'युग' की मनोवृत्ति का अंदाज लगायेंगे। अतः क्या यह उचित नहीं है कि हम साहित्य की सृष्टि करते समय इसे न भूलें कि हमारे प्रत्येक शब्द, प्रत्येक वाक्य, प्रत्येक भाव, आज और आज से कुछ वर्षों बाद हमारे व्यक्तित्व, हमारी मनोवृत्ति और हमारे वास्तविक रूप को प्रकट करेंगे। और यदि

हम उनकी आँखों में किसी महत्व के नहीं जँचे तो हमारा लिखना-पढ़ना व्यर्थ ही होगा।

हमारे लिखने की आवश्यकता क्यों है? इसका उत्तर कौन देगा? यदि हम यह मानते हैं कि साहित्य ही सभ्य समाज का चिह्न है, साहित्य ही ऐसी वस्तु है जिसमें सभ्यता चिरंजीवी रखी जा सकती है, साहित्य के द्वारा वह कार्य संभव हो सकता है जो बड़े-बड़े आन्दोलनों और विप्लवों से असंभव रहा है तो हमें इसमें संदेह करने का अवकाश नहीं है कि लिखना हमारे लिए अनावश्यक नहीं वरन् यह हमारे शिक्षित समुदाय का कर्तव्य होना चाहिए। यदि हमें देश की दशा सुधारनी है तो नित्य उसकी शिक्षा का उपाय करना हमारा प्रथम कर्तव्य है। साहित्य के द्वारा आप उन लोगों के हृदय में भी ऐसा घर कर सकते हैं जिनकी छाया तक देखने का आपको सौभाग्य नहीं प्राप्त होता। इसी के द्वारा आप अमीरों को उनके शिकार—निर्धनों की फरियाद सुना सकते हैं, इसी के द्वारा आप पापी को उसके पाप का अनुभव करा सकते हैं, इसी की सहायता से आप भूले हुए व्यक्तियों को राह पर लगा सकते हैं। सोते को जगाना साहित्य द्वारा संभव हो सकता है, रोते को हँसाना लेखक का काम है। सारांश यह है कि साहित्य ही द्वारा वे सभी बातें संभव हो सकती हैं जो अन्य साधनों से नहीं प्राप्त हो सकतीं। यदि हृदय की बात हृदय न समझ सका—उसे

समझा न सका—तो संसार में कोई अन्य साधन इसे न कर सकेगा। अतः ऐसी दशा में हमारा कर्तव्य लिखना और लिखते रहना तथा लेखकों को प्रोत्साहन देना हो जाता है।

अब प्रश्न यह है कि यदि हम कुछ न लिख कर चुप हो जायँ तो क्या हानि है ? यह प्रश्न उनके लिए नहीं है जो कसी बात का अनुभव नहीं करते अथवा किसी के प्रति राग या द्वेष का भाव जिनके मन में नहीं होता। परन्तु जो अनुभूति-शक्ति सम्पन्न हैं—विचारशील हैं—सोचते हैं, समझते हैं—जिन्हे संसार में न्याय और अन्याय, पाप और पुण्य, धर्म-अधर्म, सुखी और दुखी, पीड़क और पीड़ित, सबल और दुर्बल, शासक और शासित का भेद-भाव समझ में आता है,. वे अपने विचारों को यदि न प्रकट करे तो वे फिर क्या करेंगे ? उनके रहने या अनुभव से संसार को लाभ ?—अथवा क्या आप समझते हैं कि चुप रह कर वे अपना भी कुछ स्वार्थ साध सकते हैं ? और क्या ऐसा व्यक्ति चुप रह सकता है, जो सोचता है, समझ सकता है, अच्छे-बुरे की पहचान कर सकता है ? विश्वास रखिए, वह चुप नहीं रहेगा। अपनी विवेक-शक्ति और विचार-धारा की प्रबलता के अनुसार ही वह अपने विचारों के लिए मर मिटने को तैयार होगा। परन्तु वह चुप नहीं रह सकता। आत्मा की अन्तर-प्रेरणा के विरुद्ध क्या कोई

आचरण करने की क्षमता रख सकता है? यदि अपने विचारों को लोग दबा सकते तो आज हम किसे कृष्ण, किसे गौतम, किसे बुद्ध, शंकर, दयानंद और गांधी कह कर पुकारते?

समाज की धमनियों में समय-समय पर रक्त का संचार उन्हीं महापुरुषों ने किया है जो अपने विचारों को गुप्त न रख सके थे—जिनकी अनुभूति-शक्ति ने उन्हें मुँह खोल कर अपने विचारों को चिल्ला कर संसार के सोते हुए कानों में डालने पर विवश किया था। इसलिए समाज में रहते हुए, किंवा समाज से संपर्क रखते हुए यदि हमारे सामने चुप रहने का प्रश्न आवे तो हम उसे उसी भाँति समझते हैं जैसे कोई हमसे जीवित रहने पर सदा नींद में पड़े रहने का प्रस्ताव करे! यदि जीवन में आँखें मूँदे केवल श्वासनिक्षेप करने में हमें संतोष हो सके तो निश्चय हम समाज में रह कर चुप रहने के प्रस्ताव का कुछ अर्थ समझ सकते हैं—नहीं तो चुप रहना हम मृत्यु का लक्षण समझेंगे—जीवन के लक्षणों का उपहास समझेंगे। और क्या आप हमारे इस विचार से सहमत नहीं हैं? यदि हैं तो हमारा कर्तव्य क्या है? कर्तव्य तो क्षण भर में निश्चित हो जाता है परन्तु लेखनी हाथ में लेते ही सामने वही पुराना प्रश्न उठ खड़ा होता है—हम किस पर लिखें?

हम किस पर लिखें? इस पर विचार करते समय यह

कभी न भूलिए कि आप उस देश के निवासी, उस देश के रहनेवाले हैं, जो कभी संसार को अपना संदेश सुना चुका है—जिसने कभी साम्राज्य का सुख भोगा है—जिसने मानव जीवन और जीवन की पहेलियों को सुगमता से सुलझाया था— जिसने भली भाँति समझा था परमात्मा के विश्व-विधान का रहस्य। परन्तु इसी के साथ यह भी न भूलिए कि वही देश इस समय अपना घर खो बैठा है, अपने को भूल बैठा है। यह न भूलिए कि उसी स्वनामधन्य देश के निवासी इस समय घोर दरिद्रता और दीनता के शिकार हो रहे हैं। यह न भूलिए कि हमारे देश के अधिकांश निवासी मुश्किल से अपना तन ढँक पाते हैं—अपना उदर भर पाते हैं। वे अपनी संतानों और स्त्रियों का मनुष्योचित पालन करने में असमर्थ हो रहे हैं। उन्हें न भूल जाइए जिनका भविष्य आपके हाथों में है, जिन्हें मनुष्य बनाना, जिनकी मनुष्यता की व्याख्या करना आप पर निर्भर है। ऐसी दशा में हम किस पर लिखें ?—यह प्रश्न अधिक उलझन में नहीं डालता। यदि कुछ भी संदेह रह गया हो तो क्षण भर इस पर विचार कर लीजिए कि हमारे लेखों से किसे कैसे लाभ पहुँच सकता है।

अपने देश की दुर्दशा नित्य आँखों के सामने होते हुए यदि हम अपनी उदारता का दुरुपयोग कर 'विश्व' के लिए विश्व-साहित्य की रचना करने बैठे तो यह बात हमें वैसी

ही प्रतीत होती है जैसे घर में कोहराम मचे रहते कोई भावुक अपने कक्ष में बैठा 'विश्व-शान्ति' का स्वप्न देख रहा हो! इसे प्रवंचना, आत्मविस्मृति और अपने को भुलावे में रखना कहेंगे! इसे कहते हैं छोटे मुँह बड़ी बात—झोपड़ी में रह कर महलों का स्वप्न देखना—भूमि पर रह कर बादल चाटने का प्रयत्न करना! हमें—हम लेखकों को—सर्व-प्रथम आवश्यकता है विवेक से काम लेने की, निष्प्रभाव होकर खुली आँखों से वस्तुओं की यथार्थता पहचानने की। इसके बाद हमें आवश्यकता है उन्हें मनन करने की, उनके भीतर डूब कर उनके हृदय तक पहुँच कर उनका दुःख-सुख सुनने की। तभी हम ऐसे साहित्य की सृष्टि कर सकते हैं, जिसे हम अपना साहित्य कह सकते हैं, और वही हमारे इस प्रश्न का उत्तर होगा, हम किस पर लिखें?

लेखक के लिए कोई विशेष-शैली निश्चित नहीं कर सकता। उसके लिए वस्तुओं की गिनती नहीं गिनाई जा सकती कि इस भाँति लिखो और इन पर लिखो। लेखक और भावुक कलाकार सभी वस्तुओं पर लिख सकता है। साधारण से साधारण और प्रचलित से प्रचलित 'वस्तु' पर वह लिख सकता है—पर उसकी आत्मा, उसकी भावुकता, उसकी मौलिकता, उसकी लेखन-कला, उसकी भाषा, उसकी शैली, उन्हीं नित्य प्रति देखने में आनेवाली वस्तुओं में ऐसी रागिनी

भर देगी जिसे सुन कर आज ही नहीं भविष्य में भी लोग मुग्ध हो सकते हैं। यदि ऐसी रचना मानव समाज का कल्याण कर सके तो इसमे आश्चर्य की वात न समझिए। इसका रहस्य है उस कलाकार के हृदय मे, जो उस विपय पर लिखते समय उसे सहानुभूति की सरस भावना से देख सका था, जिसके हृदय की आर्द्रता ने उन नीरस विपयो में सरसता उत्पन्न कर दी थी, जिसकी भावुक आत्मा ने उन निर्जीव पदार्थों में जीवन की ज्योति देखी थी। अतः हमारे लिए विषयों का निर्धारण नही हो सकता और कोई हमें विशेप शैली, भापा या लेखन-पद्धति का अनुसरण करने की सलाह दे सकने की क्षमता भी नहीं रखता। हाँ, यदि हमे अपने कर्तव्य के प्रति कोई सावधान करा दे तो हमे उसके प्रति कृतज्ञ होना चाहिए।

हमारे आस-पास हमारे सामने हमारा पराधीन देश है, उसके दीन-दुखी दलित निवासी हैं। हमारे सामने हमारे समाज की जीर्ण-शीर्ण दशा है, रूढियो और अंधविश्वासों पर जीवित 'धर्म' नाम से कहलानेवाली एक निराकार संस्था है—जो हमे नहीं चलाती वरन् जिसे हम जीवित रख रहे हैं। हमारे सामने 'ईश्वर' नाम के अज्ञात-कुलशील किसी प्राचीन वस्तु की कल्पना है जिसका हम केवल विश्वास के रूप में निर्वाह कर रहे हैं। हमारे सामने हमारा दलित अनादृत मातृ-मण्डल है जिसकी नगण्यता

भी नगण्य होती जा रही है। हमारे समाने हम स्वयं हैं जो अपनी आँखों से वस्तुओं की जाँच न कर केवल धर्म, समाज और विश्वास की फूटी आँखों के भरोसे अपने विचार स्थिर करते हैं। हमें पहले अपने को देखना है।

हम कैसे लिखें? क्यों? हमें कौन रोकता है? परन्तु हमारे लिखने का कुछ उद्देश्य होना चाहिए। यथार्थवाद (Realism) के नाम पर यदि हम कुरीतियों, कामुकता और हेय वस्तुओं आदि का नग्न-नृत्य शिष्ट समाज के सम्मुख करवाने पर तुल जायँगे तो निश्चय ही हमारे आचरण की लोग आलोचना करेंगे। काव्य और भावुकता के नाम पर यदि हम स्वयं भूखों मरते हुए, भूखों से भरे हुए देश में, 'उस लोक' की रागिनी छेड़ेंगे, तो निश्चय हमें लोग पागल कहने पर विवश होंगे। कहानी के नाम पर यदि हम आज उस शृङ्गारिक युग की लालसाएँ पुन-र्जीवित करेंगे तो क्या हम अपनी कला की सार्थकता प्रमाणित कर सकते हैं? प्रत्येक देश में, प्रत्येक युग में साहित्य का निर्माण उसकी आवश्यकताओं के अनुसार हुआ है। यदि सूखे के दिनों में कोई 'मलार' अलापने बैठेगा तो उसे कोई क्या कहेगा! हमें यदि अपनी लेखनी का उपहास नहीं कराना है, यदि हम चाहते हैं कि उसकी तारीफ़ न हो—पर कम-से-कम उस पर लोग लानत न फेंकें—तो निश्चय ही हमें यह प्रश्न न भूलना चाहिए कि

हमारी रचनाएँ हमारी परिस्थिति के अनुकूल हैं या नहीं। कला की आड़ मे अपनी लालसा की तृप्ति अच्छी नहीं।

हम किस पर लिखे ? अब इस प्रश्न पर विचार करने में अधिक कठिनाई नहीं रह जाती। परन्तु इस प्रश्न का एक उत्तर नहीं और न कोई एक व्यक्ति उसे दे सकता है। लिखते समय हमें यह प्रश्न सदा सामने रखना चाहिए और अपने विचारों को लिपिबद्ध करते समय इस पर भली भाँति विचार कर लेना चाहिए कि हम किस पर लिखे ?

३

कविचर्या और लेखकचर्या

देश जब पराधीन हो जाता है, समाज जब अधोगति को प्राप्त होता है, शिक्षा और संस्कार का अभाव हो जाता है तो हम अपने को भूलकर, अपने पौरुष और शक्ति को अन्तर्ध्यान कर अपने सारे काम भाग्य और ईश्वर के भरोसे छोड़ देते हैं। आज यदि हम कवियों और लेखकों की शिक्षा का प्रश्न उठावें तो लोग इस विचार की हँसी उडाने लगेंगे। परन्तु जो देश जीवित है, जिसने अपनी आत्मा को भुला नहीं दिया है वह अपने समस्त व्यापारों की ओर वैज्ञानिक दृष्टि से दृष्टिपात करता है। वहाँ की समस्त सफलता ईश्वरदत्त नहीं वरन् मनुष्य-अर्जित समझी जाती है। जिन्हें सफलता मिली है, वे उसकी कुंजी भी जानते हैं। वहाँ प्रतिभा और ईश्वरीय देन के आसरे सब कुछ छोड़ नहीं दिया जाता।

अभी उस दिन मिस्टर गुडइयर लिखित "मनी मेकिंग आथरशिप्" पढ़ते हुए हमारी दृष्टि 'दी राइटर्स अ नबुक' नामक अध्याय पर पड़ी। उसे पढ़कर हमारा ध्यान तुरन्त

साफ़-सुथरा और आरामदेह होना चाहिए। काव्य-रचना से थक जाने पर मन की ग्लानि दूर करने के लिए मूक-सेवक (चुप रहनेवाले) सहित निर्जन स्थान में रहना चाहिए। उसके पास लिखने-पढ़ने का सब सामान ठिकाने से साफ-सुथरा होना चाहिए, आदि आदि।"

कवियों के लिए राजशेखर ने कई नियम बताये हैं। 'जब तक काव्य पूरा न हुआ हो, किसी के सामने उसे नहीं पढ़ना चाहिए। किसी आदमी के सामने अपना नया काव्य न पढ़ना, जिससे ऐसा न हो कि वह उसके काव्य को अपना बैठे और उसके पास सफाई के लिए कोई गवाह न रहे। अपने काव्य को अपने ही मन से उत्तम न समझना चाहिए और न उसकी डींग कहीं हाँकनी चाहिए। अहंकार संस्कारों को नष्ट करता है। अपनी रचना को दूसरों से जँचवाना उचित है।'

कवि के लिए दिनचर्या भी राजशेखर ने लिखी है, जैसे कब उठना, कब नहाना, कब खाना, कब सोना, इत्यादि। राजशेखर लिखते हैं—'रस के आवेश (Inspiration) में जो काव्य रचा जाता है, उसको उसी समय दुहराने से उसका गुण-दोष नहीं प्रकट होता है। इसलिए उसे कुछ समय बाद दुहराकर उसमें उचित संशोधन करना चाहिए। रचना करने के पश्चात् तुरन्त ही उसकी परीक्षा करने से हम उसके गुण-दोष नहीं देख पाते। जब रचना

तैयार हो जाय तब उसकी कई प्रतियाँ करा लेनी चाहिए। अभी रहने दे, फिर से उसे शुद्ध करूँगा, आदि बाते यदि कवि में रहीं तो उससे उसकी रचना को हानि पहुँच सकती है। पुरुषों की भाँति स्त्रियाँ भी कवि हो सकती हैं। कारण स्पष्ट है। बुद्धि, मन, आदि का संस्कार आत्मा मे होता है। और आत्मा में पुरुष और स्त्री का भेद नहीं होता।'

मिस्टर गुडइयर आधुनिक युग के पत्रकार हैं। लेखन-कला के पारखी और विशारद हैं। आप लिखते हैं—'मस्तिष्क कैसे चालू किया जाय, यह परेशानी सब लेखकों को रहती है। लोग कहते हैं पेट भर दो, काम ले लो। क्या लेखक भर पेट खा लेने से अपने मस्तिष्क से काम ले सकता है? जिस समय लेखकों के विचार मट्ठर बन जाते हैं, तब उन्हें उकसाने के लिए किसी न किसी साधन का आश्रय लेना पड़ता है। कहते हैं कि डा० जानसन को जब शब्दों की कमी होती थी तो वे चाय पीने लगते थे और उनकी लेखनी वाचाल हो जाती थी। एक प्रसिद्ध पाश्चात्य लेखक मस्तिष्क की इस उदासीनता के अवसर पर मदिरा का आश्रय लिया करता था। इस प्रकार अनेक मादक द्रव्यों का सेवन कर कवि और लेखक अपने सोते हुए मस्तिष्क को जगाया करते हैं; परन्तु क्या ऐसा करना वास्तव में सिद्धि-दायक है? यह प्रश्न विचारणीय है। कुछ लोग सिनेमा देखकर, तमाशा देखकर भी अपने विचारों

इस अस्त्र से काम लेने के पूर्व अपने उत्तरदायित्व और लक्ष्य का पूर्ण ज्ञान कर लेना परमावश्यक है।

हम भारतीय लेखक एक ऐसे देश के निवासी हैं जो पराधीन है, सदियों से जिसने स्वाधीनता की झलक नहीं देखी। हम इस पराधीनता के अंधकार में इतने दिनों से रह रहे हैं कि हममें अपने को पहचानने का ज्ञान मात्र भी नहीं रहा। हम अपनी आत्मा को भूले हुए हैं। हम इतना तक भूल गये कि स्वाधीनता की रूपरेखा क्या है। हम इस प्रकाश की कल्पना नहीं कर पाते जिसकी एक किरण हम मे जान फूंक सकती है। हमें रास्ते लगाकर, पराधीनता की तिमिरपुञ्ज वेड़ियाँ काटकर, हम में आत्म-विश्वास भरकर हमें जीवन के सच्चे सुख और लक्ष्य को दिखला सकती है। हमारे सामने पहला और तत्का-लीन सब से महत्त्व का प्रश्न अपनी खोई हुई स्वाधीनता प्राप्त करने की बात है। ऐसी दशा मे देश के हर एक निवासी का एकमात्र लक्ष्य यही होना चाहिए।

हम लिखने बैठते हैं। हमारी रचनाओ से दूसरे लाभ उठा सकते हैं। परतु यह तभी होगा जब हम लिखते समय इस बात का ध्यान रखे कि हम किस के लिए लिख रहे हैं। लेखक और पाठक का वही संबंध है जो वक्ता और श्रोता का है। कुछ लिखने के पहले अपने पाठकों का स्मरण कर लेना परम आवश्यक है। हिंदी-जगत मे

पाठकों के वर्गीकरण पर अभी किसी ने ध्यान ही नहीं दिया। सभी न शिक्षित हैं और न सभी एक श्रेणी के पाठक कहे जा सकते हैं। लिखने के पूर्व यह निश्चय कर लीजिए कि आपकी रचना किस वर्ग के लिए लिखी जा रही है। साधारणतः हम पाठकों का दो विभाग कर सकते हैं। एक तो साहित्यिक दूसरा असाहित्यिक।

साहित्यिक पाठक साहित्य से परिचित होता है। उस की शिक्षा-दीक्षा ऐसी होती है कि वह साहित्य के परंपरागत नियमों और पद्धतियों से परिचित होता है। उसका ध्येय पढ़कर मनोरंजन करना होता है। वह साहित्य को 'साधन' न समझ कर 'सिद्धि' समझता है। ऐसे पाठकों को आप कोई भी वस्तु दे सकते हैं। उनका मस्तिष्क साहित्यिक आनंद का अनुभव करने योग्य है। वह केवल साहित्यिक आनन्द का अभिलाषी है। परंतु ऐसे पाठकों की संख्या हिंदी मे अधिक नहीं और न उनके योग्य रचनाओं की सृष्टि करने की क्षमता रखनेवाले हिंदी लेखकों की संख्या ही अधिक है। कलाकार होना उतना आसान नहीं और न प्रत्येक लेखक कलाकार होने का स्वप्न देख सकता है।

दूसरे वर्ग के पाठक केवल पढ़े-लिखे हैं। उनमें साहित्य की कल्पना नहीं। वे पढ़ने के शौक़ीन हैं। साधारण रीति से पढ़ सकते हैं—अपनी भाषा में लिखी

वस्तु समझ सकते हैं। उन्हें ज्ञान की जिज्ञासा है। मनो-रंजन करते हुए अपनी जीवन-यात्रा के हेतु उपयोगी ज्ञान के अर्जन की तृष्णा है। ऐसे पाठको की संख्या अधिक है। ऐसे पाठकों के ही भरोसे लेखक अपना व्यापार चला सकता है। ऐसे पाठकों को 'कला' और 'साहित्य' की खोज नहीं। वे उपयोगी ज्ञान चाहते हैं। ऐसा मनोरंजन चाहते हैं जो उनके जीवन को सुखमय बना सके। पढ़ना-लिखना उनके मस्तिष्क का भोजन है, उनकी आत्मा की सजीवनी नहीं।

असाहित्यिक पाठकों की कई श्रेणियाँ करनी होंगी। इनमें सभी तरह की योग्यता और क्षमता के लोग होंगे। इस श्रेणी में सर्वप्रथम बालक-बालिकाएँ आती हैं फिर नवयुवक और नवयुवतियाँ आती हैं। इसी श्रेणी में हमारी महिलाएँ और गृहस्थ लोग हैं। पौरजानपद की दृष्टि से एक ओर शहरों में रहनेवाले बच्चे, लड़के लड़कियाँ और स्त्री-पुरुष हैं। दूसरी ओर देहातों में रहने-वाली पढ़लिख सकनेवाली ग्रामीण जनता है। दोनों की आवश्यकताओं में महान् अंतर है। शहरों में रहने वाले पाठको की जानकारी, साहित्यिक रुचि ग्रामीण पाठकों से बढ़-चढ़ कर है।

उन समस्त बातों को सामने रखकर हमें यह निश्चय करना होगा कि प्रत्येक श्रेणी और वर्ग के पाठकों के लिए

लिखते समय हमारी रचनाओं का विषय क्या हो, उसकी भाषा और प्रकाशन-शैली क्या हो ? शहरों में रहनेवाले पाठक हिंदी के साहित्यिक रूप से अपरिचित नहीं, परंतु गाँवों के रहनेवाले पाठको के लिए हिंदी का यह 'हिंदी-पन' अधिक प्रिय नही। कभी-कभी तो यह उन्हें पढ़ने लिखने में यथेष्ट बाधा उपस्थित करता है। रही विषयों के चुनाव की बात। हमारी समझ में अभी हमारे रहन-सहन, आचार-विचार में उतनी विभिन्नता नहीं आ पायी है कि हमारे शहरों और गाँवों के जीवन में बहुत अंतर हो गया हो। इसलिए विषयो की समस्या सुलझाने के लिए केवल थोड़ी सी कल्पना ही की आवश्यकता है। देहात की कुछ अपनी समस्याएँ अवश्य हैं, जिनकी कल्पना लेखक चाहे तो सुगमता से कर सकता है।

हाँ, एक बात सब से आवश्यक यह है कि हम चाहे जिस श्रेणी के (असाहित्यिक) पाठकों के लिए लिखें, परंतु हमें अपना दृष्टि-कोण पहले से स्थिर करना होगा संसार में 'वस्तुओं' की कमी नहीं। परंतु उनका संपर्क हमारे जीवन से कितना और किस मात्रा में होता है—यही निश्चय करना आवश्यक है। यदि लेखक यह रहस्य समझ सका तो उसे पाठकों की कमी नहीं। वह जो लिखेगा उसे पढ़नेवालो की कमी न रहेगी। परंतु इसके हेतु हमें यह पहले निश्चय करना

होगा कि हम लेखनी उठाते हैं तो किस हेतु, और किसी वस्तु विशेष पर अपने विचार प्रकट करते हैं तो किस उद्देश्य से। हमारी समस्त रचनाओं का एक उपयोगी लक्ष्य होना चाहिए। यदि लिखते हैं तो किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए। हमारा सर्वप्रथम उद्देश्य है उपयोगी ज्ञान का प्रचार। हमारी रचनाओं द्वारा हमारे पाठक अपनी जीवन-यात्रा के हेतु उपयोगी ज्ञान प्राप्त कर सकें, अपने जीवन की उलझी हुई समस्याओं को सुलझाने में समर्थ हों—यही हमारी रचनाओं की सफलता है, हमारे लेखन-व्यवसाय की सिद्धि है।

हमारी रचनाओं के अनेक रूप होते हैं। हम गद्य में लिखते हैं। पद्य में अपने लिखे विचार प्रकट करते हैं। हम कहानी, नाटक, उपन्यास, निबंध, हास्य, व्यंग, संस्मरण आदि अनेकानेक विधि से अपने विचारों को प्रकट करते हैं। ये सब केवल साधन और विधि हैं जिनके द्वारा हम अपने विचारों को फैला सकते हैं। अतएव हम चाहे जिस साधन का उपयोग करें, चाहे जिस विधि का आश्रय लें, परंतु हमारे सन्मुख हमारा लक्ष्य स्थिर होना चाहिए। हम चाहते क्या हैं? हम चाहते हैं हमारे देश के रहनेवाले अपनी शक्ति को पहचानें। अपनी खोई हुई आत्मा को प्राप्त करें। हममें रूढ़ियों से जकड़ी हुई मन्द तर्कना और विवेकशक्ति पुनः खुलकर काम करने लगे,

जल्दी करेगा तो उसका उद्देश्य विफल होगा। सदियों का रोगी यह भारतीय एक दिन में नहीं उठ खड़ा होने का। और न ऐसा प्रयत्न उसके लिए दुष्परिणाम की आशंका से मुक्त होगा। शनैः पन्था—वाली नीति का अनुसरण कर हम लेखकों को धीरे-धीरे अपनी रचनाओं में जाति को संजीवनी की 'घूँटी' देनी होगी।

हम चाहे जो लिखे, जिसके लिए लिखे, परंतु हमें यह न भूलना चाहिए कि हमारी रचना उद्देश्यहीन नहीं होनी चाहिए। चाहे जिस मात्रा में हो— परंतु हमें अपनी रचना में ऐसी परिस्थिति, ऐसी समस्याएँ, ऐसे व्यंग, ऐसे वाक्य अवश्य रखने चाहिए, जिससे हम अव्यक्त रूप से अपने पाठकों के मस्तिष्क पर ऐसा प्रभाव डाल सके जो आगे चलकर हमारे राष्ट्र के निर्माण में सहायक हो। भविष्य में उन्हें स्वतंत्र राष्ट्र के योग्य नागरिक बना सके।

जब हम लिखने बैठे उस समय हमें अपना उत्तरदायित्व न भूलना चाहिए। यह न भूलना चाहिए कि हम एक ऐसे अभागे देश के लेखक हैं, जो दलित है, दुखी है पराधीन है। हमारा एक मात्र लक्ष्य पहले स्वतंत्रता के संग्राम के योग्य उसे बनना है। हम अपने उन पाठकों को न भूले जो हमारी रचना को पढ़ने के लिए तैयार होंगे। हम अपने बाल-पाठको के मस्तिष्क के विकास के

इसकी परवा नहीं रहती कि पत्र का संपादक उसके
विचारों, शैली वा अन्य बातों से सहमत है या नहीं। उसे
तो अपनी कला का प्रदर्शन करने के हेतु हर प्रकार के
बंधन का निराकरण करना पड़ता है। ऐसी रचनाओं का
स्थायी महत्त्व होता है और ऐसी कहानियों का लेखक
साहित्यिक जगत में अपना एक स्थान बना लेता है। और
फिर वह अपनी रचना के लिए स्वयं उत्तरदायी रहता है।
मासिक-पत्रों के संपादक प्रायः ऐसी कहानियों को लेखक
की ज़िम्मेदारी पर छापते हैं। परन्तु ऐसे लेखकों की
संख्या अधिक नहीं होती और न हो ही सकती है। प्रतिभा
सब में नहीं होती और न सब लेखक उच्च कोटि की
कलापूर्ण रचनाओं की सृष्टि करने में कहीं सफल हुए हैं।
अतः लेखकों की अधिकतर संख्या, सभी भाषाओं में,
प्रायः सर्वसाधारण के लिए लिखने का अभ्यास करती है।
यह सुगम भी है और परिश्रम से इसमें लोग सफलता भी
प्राप्त कर सकते हैं।

सर्वसाधारण के लिए कहानियों की माँग काफ़ी
रहती है। परन्तु उसके लेखक को प्रथम जनता की रुचि
को समझने का प्रयत्न [illegible] । पाक्षिक,
[illegible] को

है तो इस विषय में यह कहना कठिन ही नहीं वरन् असंभव है कि किस प्रकार के पत्र के लिए कैसी कहानी लिखी जाय। परन्तु साधारणतः कहानी कैसी हो—इस पर हमें अवश्य ध्यान देना चाहिए।

कहानी के दो भेद किये जा सकते हैं। एक तो होगा 'साहित्यिक' और 'कलापूर्ण'; दूसरा होगा सर्व-साधारण के लिए और 'सर्वप्रिय' वा 'मनोरंजक'। साहित्यिक और कलापूर्ण कहानियों का उचित स्थान मासिक पत्र—और उच्चकोटि का साहित्यिक मासिक-पत्र है, और यदि लेखक एक अच्छा लेखक और विख्यात व्यक्ति है तो उसकी कहानियाँ पुस्तकरूप में भी स्थान पा सकती हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त साधारण जनता के हेतु लिखी कहानियों का पाक्षिक, साप्ताहिक और दैनिक पत्रों ही में प्रकाशित होना उपयुक्त है। कारण यह है कि ऐसी कहानियों का उद्देश्य केवल पाठकों की सामयिक रुचि को संतुष्ट करना तथा अवकाश के समय में उनका मनोरंजन करना होता है। साधारण पाठक, चाहे किसी भाषा के हों, उच्च कोटि की वस्तुओं का आनन्द नहीं उठा सकते। और मासिक पत्रों के अतिरिक्त पाक्षिक, साप्ताहिक तथा दैनिक पत्रों का ध्येय स्थायी साहित्य उत्पन्न करना भी नहीं होता।

साहित्यिक, कलापूर्ण वा गंभीर कहानियों में लेखक का उद्देश्य कला का प्रदर्शन अधिक होता है। उसे

इसकी परवा नहीं रहती कि पत्र का संपादक उसके विचारों, शैली वा अन्य बातों से सहमत है या नहीं। उसे तो अपनी कला का प्रदर्शन करने के हेतु हर प्रकार के बंधन का निराकरण करना पड़ता है। ऐसी रचनाओं का स्थायी महत्त्व होता है और ऐसी कहानियों का लेखक साहित्यिक जगत् में अपना एक स्थान बना लेता है। और फिर वह अपनी रचना के लिए स्वयं उत्तरदायी रहता है। मासिक पत्रों के संपादक प्रायः ऐसी कहानियों को लेखक की ज़िम्मेदारी पर छापते हैं। परन्तु ऐसे लेखकों की संख्या अधिक नहीं होती और न हो ही सकती है। प्रतिभा सब में नहीं होती और न सब लेखक उच्च कोटि की कलापूर्ण रचनाओं की सृष्टि करने में कहीं सफल हुए हैं। अतः लेखको की अधिकतर संख्या, सभी भाषाओं में, प्रायः सर्वसाधारण के लिए लिखने का अभ्यास करती है। यह सुगम भी है और परिश्रम से इसमें लोग सफलता भी प्राप्त कर सकते हैं।

सर्वसाधारण के लिए कहानियों की माँग काफ़ी रहती है। परन्तु उसके लेखक को प्रथम जनता की रुचि को समझने का प्रयत्न करना पड़ेगा। हिन्दी के पाक्षिक, साप्ताहिक और दैनिक आदि के संपादक अभी लेखको को इस विषय में सहायता नहीं देते, अतः लेखक को स्वयं जिस पत्र में लिखना हो उसके पाठको की आवश्यकताएँ

जाँचनी पड़ेंगी, उसे इस बात को समझने का उद्योग करना पड़ेगा कि उसके भावी पाठक क्या पसंद करेंगे। यदि वह इसका अध्ययन कर सका तो उसकी कहानी सर्व-प्रिय होगी और उसकी रचना की बराबर माँग रहेगी।

साधारण पाठकों के लिए ऐसी वस्तुओं पर कहानियाँ न लिखनी चाहिए जिससे वे भड़कते हों। उनकी रुचि, उनके विचारों, विश्वासों तथा उनकी अनुभूतियों का ठीक-ठीक ज्ञान रखना चाहिए। कहानी में ऐसी कोई बात न हो जिससे पाठकों की धार्मिक, सामाजिक वा जातीय अनुभूतियों को आघात पहुँचे। मनोरंजन मुख्य उद्देश्य होना चाहिए और साथ-ही-साथ स्वस्थ, सात्विक और साहित्यिक रूप से होना चाहिए। साधारण पाठकों में स्त्रियाँ होती हैं, बूढ़े-जवान, पढ़ने योग्य बालक-बालिकाएँ सभी होते हैं। अतः कहानी-लेखक को सब का ध्यान रखना पड़ेगा। अब हिन्दी में वह अवस्था नहीं है कि प्रत्येक दैनिक वा साप्ताहिक में बालक-बालिकाओं के लिए अलग-अलग 'स्तम्भ' हों। अतः लेखक को इसका ध्यान रखना पड़ेगा कि उसकी कहानी में कोई बात अश्लील न आने पावे, उससे बुरी शिक्षा न मिले, उससे गृहस्थ परिवार में बुराई न फैले, उसके कारण भिन्न-भिन्न संप्रदायों वा जातियों में वैमनस्य न फैले, धार्मिक दुर्भाव

न बढ़े, समाज की भिन्न-भिन्न श्रेणियों में द्रोह वा दुर्भावना न जागृत हो। साधारण पाठक 'समस्याओं' से भी घबराते हैं। कहानी उन्हें उलझन में डाल दे और वे उसके अन्तिम परिणाम पर सोचते रहें—यह वे नहीं सहन कर सकते। उनके लिए कहानी सर्वथा पूर्ण और सुलझी हुई होनी चाहिए। यद्यपि हमारे संपादक लोग अभी उपरोक्त बातों पर विशेष ध्यान नहीं देते, परन्तु लेखकों को तो अवश्य इस पर ध्यान देना चाहिए।

इस प्रकार की कहानियों में वास्तविक जीवन के परे की बातें भी अच्छी नहीं होतीं। यदि चमत्कार या अद्भुत रस का उद्रेक करने के लिए कुछ अस्वाभाविक बातें रखी भी जायें तो उसका समाहार भी होना चाहिए, रहस्य का उद्घाटन अवश्य होना चाहिए तथा कुतूहल भी शान्त होना चाहिए। साधारण पाठक कहानियों में 'प्लाट' वा कथा-वस्तु ढूँढ़ता है। उसे प्रेम-कथाएँ अधिक पसंद आती हैं। उन्हें ऐसी कहानियाँ अच्छी लगती हैं जिनकी 'भूमिका' से वे परिचित हों। सामयिक और आधुनिक परिस्थिति में घटी घटनाएँ उन्हें अधिक रोचक जान पड़ती हैं। उन्हें ऐसी कहानियाँ भली मालूम पड़ती हैं जिनसे कुछ अच्छा परिणाम निकले, कुछ शिक्षा मिले।

कहानी की सृष्टि करनी चाहिए। केवल गढ़कर कहानी-लेखक उसे सफल नहीं बना सकता। उसे घटनाओं

और कहानी में यही अंतर है। कहानी लिखने की शैलियाँ इतनी विभिन्न हैं कि उनकी गिनती नहीं हो सकती। उनका आरंभ, मध्य और अन्त कैसे करना चाहिए—यह अभ्यास से सीखा जा सकता है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि सर्वत्र कहानी में रोचकता, सरसता और चमत्कार सुरक्षित रहे। कहानी में भाषा बड़ी चुस्त, स्पष्ट और मुहावरेदार होने से कहानी का प्रभाव बढ़ जाता है। जिस प्रकार एक चतुर चित्रकार अपनी तूलिका से कुछ ही रंगों के हेर-फेर और 'टच्' या स्पर्श से एक सुन्दर, सजीव चित्र सामने उपस्थित कर देता है, उसी भाँति एक चतुर कहानी-लेखक अपनी सुन्दर भाषा द्वारा अपने सुन्दर भावों को संक्षेप में सामने रखकर जीवन की एक सुन्दर व्याख्या पाठकों के सम्मुख रख सकता है। और फिर उसकी कहानी अच्छी न हो—यह असम्भव है।

कहानी लिखने के पूर्व लेखक को अपनी कथा-वस्तु का सम्पूर्ण रूप से मन में प्रत्यक्षीकरण करने का प्रयत्न करना चाहिए। जो लेखक अपनी कहानी को 'फील' अर्थात् मानसिक प्रत्यक्षीकरण कर लिखता है, उसकी कहानी पाठकों के हृदय को [illegible] है। लेखक को अपने पात्रों के साथ सुख अं[illegible]भव करना चाहिए। तभी उसके पात्रों का [illegible] होगा और उसकी कहानी पाठकों के [illegible]

हृदय से निकली हुई बात यदि हृदय तक न पहुँचे तो फिर कैसे क्या होगा।

नवसिखुए लेखकों को अपनी रचनाओं को या तो किसी अनुभवी लेखक को पढ़कर सुना देना चाहिए और उसमें उचित संशोधन करा लेना चाहिए अथवा स्वयं उन्हें कुछ समय पश्चात् शान्तचित्त होकर दोहराना चाहिए। कहानी के विषय में यह बात अत्यंत आवश्यक है क्योंकि सभी पाठक कहानी के आलोचक होते हैं। और यह मानना पड़ेगा कि साधारण स्त्री-पुरुष उसके अच्छे आलोचक होते हैं। पढ़ा-लिखा पाठक कभी-कभी 'कला' के नाम पर वा 'काव्य-समय' के नाम पर, कुछ बातो पर आँख वचा जायगा, पर साधारण पाठक जिसके अनुभव का सम्बन्ध वास्तविक जीवन से अधिक है, ऐसी खटकने वाली बातों पर कभी चुप रहने को तैयार न होगा। वह तुरंत कहानी को अस्वाभाविक, मनगढ़न्त और लेखक की 'बहक' कहकर, उसे पढ़ने के लिए रोकेगा। इसलिए लेखकों को अपनी कहानियों की अच्छी तरह परख करके उन्हे प्रकाशनार्थ भेजनी चाहिए। हम सर्वसाधारण के हेतु लिखी कहानियों की बात करते हैं; कलापूर्ण वा उच्चकोटि की साहित्यिक, समस्या-पूर्ण आख्यायिकाओं के विषय मे नहीं। प्रसिद्ध पत्रकार हेरोल्ड हर्ड ने कहानी की परख के लिए निम्नलिखित प्रश्न-सूची तैयार की है जिसके अनुसार

जाता है और यह असंभव नहीं कि लेखक अपनी कहानी का अंत वहाँ न कर पावे जहाँ उसने पहले सोच रक्खा था। और फिर यह भी असंभव नहीं कि कहानी का प्रभाव कुछ-का-कुछ हो उठे। इसी लिए कहानी में बहुत सी घटनाओं का उल्लेख न कर परिणाम पर पहुँचनेवाली मुख्य-मुख्य घटनाओं को ही लेना चाहिए।

कितने वर्षों की घटना कहानी में रहे, यह सीमित नहीं किया जा सकता। परन्तु यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि जहाँ कहानी की सफलता की बात है वहाँ केवल मुख्य-मुख्य घटनाओं का वर्णन करते हुए पाठकों को सीधे परिणाम पर पहुँचाना ही उचित है। जिस प्रकार लम्बी यात्रा करते समय हम डाक से सफर करते हैं। छोटे-बड़े स्टेशन सभी मार्ग में पड़ते हैं पर हम केवल बड़े-बड़े और अनिवार्य स्टेशनों पर ही रुकते हैं। मार्ग वही है जिससे पैसंजर ट्रेन भी आती है, पर हमें अपने उद्दिष्ट स्थान पर पहुँचने की इतनी जल्दी रहती है कि हम सब स्टेशनों पर व्यर्थ समय नष्ट नहीं करते। उसी प्रकार कहानी में भी होना चाहिए। मार्ग में पाठकों की सहानुभूति न भटकने देना चाहिए, नहीं तो उन्हें 'परिणाम' का ध्यान ही जाता रहेगा और कहानी केवल घटनाओं का 'ब्योरा' मात्र रह जायगी।

कहानी की संपूर्णता ही कहानी की सफलता है।

परिस्थिति वा विषय को कथानक समझ लेता है। इसका फल यह होता है कि वह किसी तरह कहानी की पूर्ति करता है और परिणाम तक नहीं पहुँच पाता। कहानी केवल घटनाओं का क्रम नहीं है। उसमें एक ऐसा 'अंत' होना चाहिए जिस तक पहुँचने में समस्त घटनाएँ सहायक हों और जिस तक पहुँच कर वे उसके आगे जाने की अपेक्षा न करें। यह 'परिणाम' कहलाता है। परिणाम चमत्कारपूर्ण और प्रभावोत्पादक होना चाहिए।

कुछ लेखक पहले किसी विषय वा समस्या को लेकर कथानक बनाते हैं, कुछ परिस्थिति लेकर कथानक रचते हैं, कुछ प्लाट ही को लेकर चलते हैं और कहानी का ढाँचा तैयार करते हैं, कुछ बिना कुछ सोचे ही कहानी आरंभ कर देते हैं और अवसर और भविष्य के भरोसे उसे छोड़कर लिखना आरंभ कर देते हैं—जहाँ अंत हो जाय, जैसे भी अंत हो जाय! इन में कौन मार्ग अच्छा है कौन बुरा—यह कहना कठिन है। यह लेखक की योग्यता [illegible]ौर क्षमता पर निर्भर है। परन्तु सब की परख संपूर्ण [illegible]ी है और उसकी सफलता में ही लेखक की शैली की [illegible] है। [illegible] लोग ऐसे भी देखे गये हैं जिनकी कहानी [illegible] होती है। किसी पात्र की कल्पना [illegible] उसके आचरणों का मूर्तिमान रूप [illegible] किया और वे कहानी लिख

head and contain nothing that does not lead directly or indirectly to the climax. The reader's progress from start to finish should be even and controlled

To secure this smoothness, there must be no irrelevant detail 'No admittance except on business', must be the short story writer's motto "

जिस प्रकार कहानी में 'समय' बहुत लंबा न होना अच्छा है उसी तरह उस में पात्रों की संख्या भी अधिक न होनी चाहिए। दो या तीन पात्र कहानी के लिए काफी हैं। उससे अधिक कहानी की सीमा से बाहर हो जाते हैं। उनका उचित स्थान उपन्यास है जिसमें विस्तार काफ़ी होता है और जिसमें बहुत से पात्रों को लेखक मार्ग में ही छोड़ सकता है। कहानी में कोई पात्र अंत के पहले नहीं छोड़ा जा सकता।

कहानी में कथानक वा प्लाट मुख्य वस्तु है। प्लाटरहित कहानी चाहे कितनी ही अच्छी लिखी जाय पर वह अच्छी न होगी। विशेष कर साधारण श्रेणी के पाठकों के लिए तो कहानी में अच्छा और मौलिक कथानक होना अत्यंत आवश्यक है। वे शैली वा कला के उतने ग्राहक नहीं जितने अच्छे प्लाट के। नया लेखक कभी-कभी किसी

...ए भी भिन्न होंगी। लेखक को प्लाट सोचने और कथा-
...क का ढाँचा सोचने का अभ्यास बराबर करना चाहिए।
...विचारों की कमी नहीं—अनुभवों की कमी नहीं, कमी
होती है, लेखक में उन पर कथानक बना सकने की योग्यता
की और अपने अनुभवों को काम में लाने की क्षमता की।

कहानी लेखक को बराबर अपनी नोट-बुक में कहानी के योग्य विचारों को नोट कर लेना चाहिए फिर समय-समय पर उन पर सोचते रहना चाहिए। यदि विचार-धारा में कहीं वह किसी विचार पर संपूर्ण कहानी सोच ले और उसमें कोई ऐसा स्थल आजाय जहाँ कहानी का 'परिणाम' पहुँच जाय, तो उसे तुरंत नोट कर लेना चाहिए। कहानी लेखक को अपने जीवन का अच्छी तरह अध्ययन और अनुभव करना चाहिए। अपना अनुभव कहानी लेखक के बड़े काम की वस्तु है। इस हेतु उसे सदा सजग रहना चाहिए।

कहानी की सफलता बहुत कुछ उसके आरंभ पर निर्भर रहती है। अँग्रेज़ी में एक कहावत है—Well begun is half done. यदि वृक्ष होनहार है तो उसका पहला ही ... चिकना होगा। मिस्टर ओलवेन ए० जोर्जेन, 'कहानी ... की जाय' पर लि... हुए ... है—There

चले। ऐसी कहानी में पात्र का चरित्र-चित्रण ही प्रधान होता है।

नये लेखक के लिए सब से अच्छा यह है कि वह एक विचार को निश्चित करे। फिर उस पर कथानक सोचे और कहानी का ढाँचा बनाकर लिखना आरंभ करे। सब से आवश्यक बात कहानी में यह है कि कुछ कहने की बात उसमें होनी चाहिए।

अधिकतर देखा गया है कि प्लाट या कथावस्तु सोचने और बनाने से बनती है। एकाएक कथानक मन में उद्भूत नहीं होता। जिस लेखक में अनुवीक्षण शक्ति है, 'ग्राहकता' है, उसे बहुत से प्लाट मिलते हैं। एक कहानी-लेखक का कहना है, कि जिधर मैं आँख उठाता हूँ प्लाट-ही-प्लाट नज़र आते हैं। यदि लेखक का मस्तिष्क ठीक ढंग पर विकास-प्राप्त है तो उसे हर स्थान मे कथावस्तु मिल सकती है। रास्ते मे, रेल पर, समाचारों मे, बातचीत में—सभी स्थल और अवसर पर। विचारों की कमी नहीं, पर उन पर संपूर्ण कहानी का ढाँचा बना लेना परिश्रम और कार्यकुशलता की अपेक्षा करता है। इसी मे लेखक की मौलिकता और व्यक्तित्व है। जितनी जिसकी जानकारी होगी, जो जितना ही दूर तक पहुँच सकेगा वह उतनी ही उत्तमता और कलात्मक रूप से कहानी का ढाँचा बनायेगा। एक ही विचार पर अनेक लेखक अनेक कहानियाँ लिख सकते हैं—सब एक होते

हुए भी भिन्न होंगी। लेखक को प्लाट सोचने और कथानक का ढाँचा सोचने का अभ्यास बराबर करना चाहिए। विचारों की कमी नहीं—अनुभवों की कमी नहीं, कमी होती है, लेखक में उन पर कथानक बना सकने की योग्यता की और अपने अनुभवों को काम मे लाने की क्षमता की।

कहानी लेखक को बराबर अपनी नोट-बुक में कहानी के योग्य विचारों को नोट कर लेना चाहिए फिर समय-समय पर उन पर सोचते रहना चाहिए। यदि विचार-धारा मे कहीं वह किसी विचार पर संपूर्ण कहानी सोच ले और उसमें कोई ऐसा स्थल आजाय जहाँ कहानी का 'परिणाम' पहुँच जाय, तो उसे तुरंत नोट कर लेना चाहिए। कहानी लेखक को अपने जीवन का अच्छी तरह अध्ययन और अनुभव करना चाहिए। अपना अनुभव कहानी लेखक के बड़े काम की वस्तु है। इस हेतु उसे सदा सजग रहना चाहिए।

कहानी की सफलता बहुत कुछ उसके आरंभ पर निर्भर रहती है। अँग्रेज़ी मे एक कहावत है—Well begun is half done. यदि वृक्ष होनहार है तो उसका पहला ही पत्ता चिकना होगा। मिस्टर ओल्वेन ए० जोर्जेन, 'कहानी कैसे आरंभ की जाय' पर लिखते हुए कहते हैं—There can be no doubt that the opening is a decisive factor in a short story's fate अर्थात् कहानी का भाग्य-निर्णय बहुत कुछ 'आरंभ' पर

निर्भर रहता है। परन्तु कहानी-लेखकों में नवसिखुए इस पर बहुत कम ध्यान देते हैं। कहानी का आरंभ करते समय कुछ बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

पहली बात यह कि कहानी का आरंभ 'स्पष्ट' होना चाहिए। 'स्पष्टता' कहानी को आकर्षक बना देती है। पाठक पहला वाक्य पढ़ते ही उसमें लग जाता है। जिसे हम नहीं समझेंगे उसे पढ़ने की हमें क्यों इच्छा होगी। कुछ लेखक अपनी 'समझ' से पाठकों की परख करते हैं। यह न समझना चाहिए कि यदि हमें (लेखक को) कहानी का आरंभ ठीक जँचता है तो वह पाठक को भी स्पष्ट होगा। लेखक अपनी कहानी की सारी बातों से परिचित होता है। उसकी कल्पना में सारी बातें होती हैं। इसी लिए उसे किसी भी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। परन्तु पाठक तो अभी कहानी को पढ़ भी नहीं पाया है, अतः उसके लिए यदि आरंभ दुरूह, अरोचक वा गूढ़ हुआ तो वह उसे पढ़ने की परवा न करेगा। जिस घर का द्वार इतना दुर्भेद्य होगा, उसके भीतर कौन प्रवेश करने का साहस करेगा। पाठक आपका अतिथि है, आलोचक नहीं। उसके लिए आपको अपनी कहानी का द्वार खुला रखना चाहिए।

मिस्टर जोर्जन कहते हैं—The opening paragraph (of the story) should be

crystal clear अर्थात् कहानी का प्रारंभिक पैरा आइने की भाँति निर्मल होना चाहिए।

कहानी के आरंभ में बहुत से व्यक्तियों या स्थानों के नाम न लिखना चाहिए। पाठक धीरे-धीरे 'पात्रों' को पहचानता है, उसके नाम याद करता है। यदि आरंभ में ही उसे दस-पाँच नाम गिना दिये गये तो वह किसी को भी स्मरण न रखेगा। पहले उसे पात्रों वा स्थानों का परिचय देना चाहिए, फिर उनके नाम बतलाना उचित है—अन्यथा वह स्मरण न रखेगा, और कहानी उसके लिए 'परीक्षा' हो उठेगी। बहुत सी कहानियाँ इसलिए बिगड़ जाती हैं कि उनके आरंभ मे लेखक ने बहुत से पात्रों की भीड़ लगा दी, बहुत से नाम गिना दिये। होना यह चाहिए कि कहानी मे धीरे-धीरे पात्रों का एक-एक कर के प्रवेश हो। कहानी में यों भी बहुत से पात्र न रखने चाहिए, दूसरे मुख्य पात्र का प्रवेश विलंब करके न कराना चाहिए। यदि ऐसा होता है तो पाठकों को कष्ट होता है, और कहानी का मज़ा किरकिरा हो जाता है। पाठकों का स्वभाव है कि वे कहानी के आरंभ मे आनेवाले पात्र को 'नायक वा नायिका' मान लेते हैं। यदि आगे चल कर उन्हें मालूम होता है कि यह तो 'यों ही' था तो उन्हें फिर से अपनी सहानुभूति को दूसरे के प्रति लक्ष्य करनी पडती है। इस 'पात्र-परिवर्तन' से पाठकों की

कल्पना और स्मरणशक्ति को व्यर्थ आघात पहुँचता है। जो उन्हें विमनस और चिड़चिड़ा बना देता है फिर कहानी का उन्हें मज़ा क्या मिलेगा! आरंभ में एक या दो से अधिक पात्रों का आना कहानी को बिगाड़ देता है।

कहानी के आरंभ ही से कथावस्तु का 'बिन्दु' रखना चाहिए। अनर्गल बातों के लिए न कहानी में स्थान है न पाठकों को फ़ुर्सत। सारे कथानक की कुंजी कहानी के आरंभ में आनी चाहिए। यदि कहानी-हास्य-रस-प्रधान है तो कभी कोई करुणोत्पादक बात आरंभ में न लिखे। प्रेम- कथा, रहस्यात्मक कथा आदि सभी प्रकार की कहानियों में आरंभ ऐसा होना चाहिए जिसमे पाठक उसके आरंभ से ही आनेवाली बातों के विषय में कुछ समझ सके। पाठक जिस दृष्टिकोण या आशय से कहानी आरभ करता है यदि उसमें उलट-फेर होता है तो उसे झल्लाहट आती है और कहानी की सफलता संदिग्ध हो उठती है।

कहानी-लेखकों का एक साधारण दोष यह है कि वे कहानी के आरंभ में व्यर्थ का 'वर्णन' करने लगते हैं। एक युग था जब लोगों को काफी फ़ुर्सत थी। कहानी पढ़ने के पहले पृष्ठ-के-पृष्ठ 'प्रकृति-वर्णन' का वे आनन्द लेते थे। अब वह फ़ुर्सत का युग नहीं रहा। अब तो पाठक संक्षेप-से-संक्षेप में कहानी के उद्देश्य से परिचित

होना चाहता है। अतः अब इस युग में कहानी के आरंभ में पैरा-का-पैरा प्रकृति-वर्णन लिखना व्यर्थ का बकवास मात्र माना जायगा। सीधे नाक पकड़िए—यही नवीन कहानी-लेखकों का गुरुमन्त्र होना चाहिए। इस दृष्टि से कभी आरंभ में असम्बद्ध बातें अथवा आवश्यकता से अधिक विस्तार न होना चाहिए। किसी पात्र का अनावश्यक परिचय न देना चाहिए। पाठकों को उसमें क्या दिलचस्पी होगी—यह सदा लेखक को सामने रखना चाहिए।

चतुर लेखक कभी स्वय कुछ न कहकर आवश्यक बातों का परिचय पात्रों के कथनोपकथन द्वारा प्रकट करता है। यह ढंग कहानी को और निखार देता है। अच्छी कहानी में तो आरंभ किसी घटना से होना चाहिए। इससे पाठक तुरंत उस कहानी को पढ़ने के लिए लालायित हो उठता है। यदि एकाएक कोई धड़ाका हो जाय—सभी दौड़ पड़ेंगे। सभी का कुतूहल जाग उठेगा, फिर धीरे-धीरे सारा रहस्य जानने पर चाहे बहुत से दर्शक लौट जायँ। इसी तरह पाठकों को आकृष्ट करने के लिए आरंभ ऐसा होना चाहिए कि प्रथम ही वाक्य कुतूहल जाग्रत कर दे। परन्तु यह कुतूहल कहानी के अंत तक जाग्रत रखना होगा। यदि कहानी में 'घटनाएँ' प्रारंभ से होने लगती हैं तो वह अत्यन्त रोचक हो जाती है व्यर्थ वर्णन

का मज़ा ही क्या रहा। आरंभ से अंत तक के बीच में कहानी की गति ऐसी होनी चाहिए कि उसका प्रवाह न टूटे। पर साथ-ही-साथ कथानक घूमता फिरता अड़चनों को पार करता हुआ इस तरह अंत या परिणाम पर पहुँचे कि परिणाम फिर महत्वपूर्ण जँचने लगे। घटना-क्रम का साधारण रूप से, आरम्भ से अंत तक पहुँचनामात्र कहानी को 'कहानी' कहलाने योग्य नहीं बना देगा। बिना 'संघर्ष' या 'विरोध' के कहानी का मज़ा जाता रहेगा। वह केवल घटनाओं का इतिहासमात्र होगी। इसी दृष्टि से मिस्टर फोस्टर कहते हैं—

'विवाह दो व्यक्तियों के प्रेम का परिणाम है पर केवल 'प्रेम' और 'विवाह' मात्र का वर्णन कर देना तो कहानी नहीं होगी। क्योंकि उसमें कुछ बखेड़ा होना चाहिए। प्रेमासक्त होना और विवाह-बंधन में बँधना—दो घटनाएँ हैं। परन्तु बिना बीच की अड़चन या विरोधी तत्वों के उसमें विशेषता ही क्या रही। यह तो सभी समझ लेंगे कि 'विवाह' परिणाम होगा। फिर उसे कहानी का रूप देने की आवश्यकता ?'

आगे चलकर आप लिखते हैं—'Without complication the line joining the opening and the end is a straight one, it is like a road which can be seen from end to end,

whereas there should be turnings, unexpected views, changes of scenery and the like In other words, the line of the plot must be diverted atleast once by an opposing cause or opposing causes'

कहानी के ढाँचे में 'उलझन' रखते समय कई बातों पर ध्यान रखना चाहिए। पहली बात तो यह कि 'अड़चन' विश्वासयोग्य होनी चाहिए। विश्वासयोग्य वस्तु से तात्पर्य यह नहीं कि आप कोई ऐसी बात न लिखें जो वास्तविक जीवन मे घटती नही, वरन् यह, कि कहानी पढ़ते समय पाठक उसे 'अविश्वासयोग्य' कहकर छोड़ न दे। यदि आपने पाठकों को भुलावे में डालकर असंभव को संभव बना दिया तो भी आप की सफलता आप के हाथ रही।

कहानी-लेखक को चलतू हथकण्डों वा 'आकस्मिक' से बहुत बचना चाहिए। यह नहीं जब आवश्यकता हुई केवल 'ऐसी घटना घटी' का आसरा लेने लगे। जब चाहा, जो चाहा 'आकस्मिक' के भरोसे कर डाला। जीवन मे सारी बातें 'आकस्मिक' के भरोसे नहीं चलतीं। कभी-कभी ऐसा हो भी जाता है। पर यह नियम नहीं, अपवाद है। मिस्टर फोस्टर का मत है—A coincidence is a literary crime—अर्थात् 'घटना घटाना' साहित्यिक अपराध है।

एक युग था जब 'चमत्कार' का आश्रय लेकर कहा-

का मज़ा ही क्या रहा। आरंभ से अंत तक के बीच में कहानी की गति ऐसी होनी चाहिए कि उसका प्रवाह न टूटे। पर साथ-ही-साथ कथानक घूमता फिरता अड़चनों को पार करता हुआ इस तरह अंत वा परिणाम पर पहुँचे कि परिणाम फिर महत्त्वपूर्ण जँचने लगे। घटना-क्रम का साधारण रूप में, आरम्भ से अंत तक पहुँचनामात्र कहानी को 'कहानी' कहलाने योग्य नहीं बना देगा। बिना 'संघर्ष' वा 'विरोध' के कहानी का मज़ा जाता रहेगा। वह केवल घटनाओं का इतिहासमात्र होगी। इसी दृष्टि से मिस्टर फोस्टर कहते हैं—

'विवाह दो व्यक्तियों के प्रेम का परिणाम है पर केवल 'प्रेम' और 'विवाह' मात्र का वर्णन कर देना तो कहानी नहीं होगी। क्योंकि उसमें कुछ बखेड़ा होना चाहिए। प्रेमासक्त होना और विवाह-बंधन में बँधना—दो घटनाएँ हैं। परन्तु बिना बीच की अड़चन वा विरोधी तत्वों के उसमें विशेषता ही क्या रही। यह तो सभी समझ लेंगे कि 'विवाह' परिणाम होगा। फिर उसे कहानी का रूप देने की आवश्यकता?'

आगे चलकर आप लिखते हैं—'Without complication the line joining the opening and the end is a straight one, it is like a road which can be seen from end to end,

कठिन है कि परिणाम या मर्मस्पर्शी स्थल तक पहुँचने को कितनी मजिले हो—कितनी घटनाएँ हो। परन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि उन घटनाओं का विकास ऐसा होना चाहिए कि एक के बाद दूसरा, पहले से अधिक महत्त्वपूर्ण हो। और परिणाम तक पहुँचने के पूर्व एक ऐसी घटना हो जो परिणाम को मर्मस्पर्शी बना सके।

कुछ लोग पूछते हैं प्रधान घटना वा 'चरम' कहानी मे किस स्थल पर हो। यह बड़ा कठिन प्रश्न है। परन्तु साधारण रूप से यह समझना चाहिए कि जहाँ पाठको का कुतूहल वा 'अब क्या होगा' सब से अधिक ज़ोर पर हो वही परिणाम आवेगा और उसके पहले वाली घटना 'चरम' होगी। 'चरम' छिपा न होना चाहिए। वह स्पष्ट हो जिसमें पाठक उसे समझ सके और उसके लिए प्रतीक्षा कर सके। 'चरम' के पूर्व की घटनाएँ भी संबद्ध होनी चाहिए।

चरम के बाद कहानी का 'रहस्योद्घाटन' तथ्य है। यह भी परिणाम का एक अंग है। परिणाम वा अंत के पूर्व ही रहस्य का उद्घाटन होना चाहिए। परन्तु कभी-कभी लेखक उसे व्यर्थ समझता है। कहानी की परख करने वाले होते हैं उसे पढ़ने वाले पाठक। लेखक को चाहिए कि छपाने के पहले वह अपनी कहानी किसी ऐसे व्यक्ति को पढ़ने को दे जो आलोचक हो। यदि स्वयं पढ़े तो उसे आलोचक की आँखों से पढ़ना चाहिए। कहानी में 'संक्षेप'

नियाँ लिखी जाती थीं। किसी के आशीर्वाद से कुछ हो गया; किसी के शाप से कुछ हो गया। पर ऐसी कहानियों पर लोग अब हँसने लगेंगे। कुछ कहानी-लेखकों की आदत है कि बीच-बीच में कुछ घटनाएँ छोड़ जायँगे, लाँघ कर आगे निकल जायँगे, व्यर्थ असंबद्ध विरोधी तत्व घुसेड़ देंगे—ये सब कहानी की सुन्दरता को नष्ट कर देते हैं। कहानी में घटनाओं का क्रम अविश्रृङ्खल और कारण-कार्य के सिद्धान्तों के अनुसार होना चाहिए। उसकी गति स्वाभाविक और उसका विकास क्रमिक होना चाहिए।

कहानी में एकाएक कोई बात हो जाना पाठकों को खटक जाता है। यदि पाठकों को आश्चर्य में डालना है तो भी वह ऐसा होना चाहिए कि उसका 'इशारा' पहले ही मिल चुका हो। यह दूसरी बात है कि पाठक ने पढ़ते समय उस पर ध्यान न दिया हो, पर बाद में उसे अवश्य स्मरण आ जायगा और वह उस घटना पर अविश्वास न करेगा। आगे होनेवाली बातों का कुछ-न-कुछ इशारा पहले ही से देना ठीक है। परन्तु 'इशारा' ऐसा न हो कि पाठक आगे आनेवाली सारी बात पहले ही से भाँप जाय और कहने लगे, "मैं समझ गया—आगे यह होनेवाला है।" यदि ऐसा हुआ तो कहानी 'असफल' हुई।

कहानी का ढाँचा घटनाओं का क्रमिक विस्तार है। समस्त कहानी मानों घटनाओं की सीढ़ी है। यह कहना

कठिन है कि परिणाम या मर्मस्पर्शी स्थल तक पहुँचने को कितनी मंजिले हों—कितनी घटनाएँ हों। परन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि उन घटनाओं का विकास ऐसा होना चाहिए कि एक के बाद दूसरा, पहले से अधिक महत्त्वपूर्ण हो। और परिणाम तक पहुँचने के पूर्व एक ऐसी घटना हो जो परिणाम को मर्मस्पर्शी बना सके।

कुछ लोग पूछते हैं प्रधान घटना वा 'चरम' कहानी में किस स्थल पर हो। यह बड़ा कठिन प्रश्न है। परन्तु साधारण रूप से यह समझना चाहिए कि जहाँ पाठकों का कुतूहल वा 'अब क्या होगा' सब से अधिक ज़ोर पर हो वहीं परिणाम आवेगा और उसके पहले वाली घटना 'चरम' होगी। 'चरम' छिपा न होना चाहिए। वह स्पष्ट हो जिसमें पाठक उसे समझ सके और उसके लिए प्रतीक्षा कर सके। 'चरम' के पूर्व की घटनाएँ भी संबद्ध होनी चाहिए।

चरम के बाद कहानी का 'रहस्योद्‌घाटन' तथ्य है। यह भी परिणाम का एक अंग है। परिणाम वा अंत के पूर्व ही रहस्य का उद्‌घाटन होना चाहिए। परन्तु कभी-कभी लेखक उसे व्यर्थ समझता है। कहानी की परख करने वाले होते हैं उसे पढ़ने वाले पाठक। लेखक को चाहिए कि छपाने के पहले वह अपनी कहानी किसी ऐसे व्यक्ति को पढ़ने को दे जो आलोचक हो। यदि स्वयं पढ़े तो उसे आलोचक की आँखों से पढ़ना चाहिए। कहानी में 'संक्षेप'

से कहना अच्छा है। विस्तार से दूर रहना चाहिए। 'रहस्य' की व्यंजना कर देना ही काफी होता है।

परिणाम तक पहुँचने पर कहानी समाप्ति पर आ जानी चाहिए फिर एक शब्द भी उससे आगे न लिखा जाना चाहिए। यदि कुछ और लिखना उचित जान पड़ता है तो समझ लो कि कहानी समाप्ति पर नहीं पहुँची। इसका यह अर्थ है कि कहानी के अंग-प्रत्यंगों में सामंजस्य नहीं और कहानी ठिकाने की नहीं हुई।

कहानी का 'उद्देश' एक होना चाहिए। उसमें व्यर्थ, निरर्थक, गूढ़ वा नीरस बातों को स्थान न मिलना चाहिए। कहानी का अत ऐसा होना चाहिए कि उसे पढ़कर पाठक सतुष्ट तो हों ही, पर उनके हृदय पर प्रभाव भी पड़े। कम-से-कम उनके मुख से 'वाह' अवश्य निकल आये। उसके लिए लेखक इस बात का प्रयत्न करता है कि अंत में कोई चमत्कारपूर्ण बात रक्खे। सबसे अधिक प्रचलित अंत वह होता है जिसमे कोई ऐसी बात होती है जिनका पाठकों को ख्याल भी न था। दूसरा वह जिसमें कहानी शातिपूर्वक स्वाभाविक रूप से समाप्त होती है। पहले प्रकार में पाठकों को 'आघात' मिलता है। दूसरे मे वे परेशानी के शिकार नहीं होते और फिर कभी बीती घटनाओं पर विचार नहीं करते।

कहानी में चमत्कार लाने के लिए लेखक उसे 'अंत'

के पहले ऐसा 'घुमाव' देता है कि मज़ा आ जाता है। इस कला को सोचने का एक मात्र तरीक़ा है अच्छी-अच्छी कहानियाँ पढ़ना और उनसे सीखना। अंत में यदि लेखक ऐसे रहस्य का उद्घाटन करता है जिसकी कल्पना पाठक को थी ही नहीं तो उस कहानी का अंत बहुत प्रभावोत्पादक हो जाता है। परिणाम वा अंत निरुद्देश्य न होना चाहिए। बिना उद्देश्य के लिखी कहानी निरर्थक वा व्यर्थ होती है।

कथोपकथन आधुनिक कहानी की जान है। उससे कहानी में वास्तविकता आती है। उस प्रकार लेखक 'स्वयं' को कहानी में छिपा रखता है। पुराने युग की कहानियों में लेखक ही सर्वप्रधान रहता था। पाठकों को स्थल-स्थल पर स्मरण आता रहता था कि यह कहानी कोई कह रहा है। परन्तु आजकल तो नाटक की भाँति लेखक पात्रो द्वारा ही सब कुछ कहलाना चाहता है। इसलिए कथोपकथन पर लेखक को विशेष ध्यान रखना होगा।

कथोपकथन सोलह आने स्वाभाविक होना चाहिए। बातचीत करते समय जैसे दो पात्र अपना व्यक्तित्व सुरक्षित रखते हुए वार्तालाप करते हैं, ठीक उसी तरह उन्हे कहानी में भी आचरण करना चाहिए। इसके लिए लेखक को वास्तविक जीवन का अध्ययन करना चाहिए। उसे लोगों को बातचीत करते सुनना चाहिए, उससे अनुभव प्राप्त करना चाहिए। कुछ लेखक अपनी कहानी के पात्रों की

बातचीत ऐसी बना देते हैं मानों दो 'मुख-मात्र' बोल रहे हों। ऐसी दशा में उनकी बातचीत नीरस और अस्वाभाविक जान पड़ती है और वे पात्र 'सजीव' नहीं हो पाते। आधुनिक युग की कहानियों में यह दोष अक्षम्य माना जाता है।

कथोपकथन में दो व्यक्तियों के शब्दों, वाक्यों के ढाँचे, लहजे, उच्चारण आदि सभी में ऐसा अंतर होना चाहिए जिससे दो भिन्न-भिन्न पात्रों के व्यक्तित्व से पाठक परिचित हो जायँ। अपनी ओर से भी केवल 'उसने कहा' और 'उसने उत्तर दिया' लिख देना उचित नहीं। इससे तो कहानी शिथिल हो जाती है। अपनी ओर से भी ऐसे विशेषणों और क्रियाविशेषणों का प्रयोग करना चाहिए कि पात्रों की मनोवृत्ति, मानसिक अवस्था पर प्रकाश पड़े, पाठकों की कल्पना में वे मूर्तिमान हो उठे। उसने पूछा, उसने कड़क कर उत्तर दिया, वह उत्तेजित होकर बोला, उसने हिचकते हुए उत्तर दिया, वह पूछ बैठा, उसने छूटते ही उत्तर दिया—आदि प्रकार यदि लिखा जाय तो कहानी में सजीवता आती है, उस पर वास्तविकता का रंग चढ़ता है।

यदि देखा जाय तो हम लोगों में से शायद ही सौ में चार हों जो बातचीत में लम्बे-लम्बे वाक्य प्रयोग करते हों पर लेखक, कथोपकथन में ऐसा क्यों करता है। यह उसका दोष है। छोटे-छोटे वाक्यों वाला कथोपकथन

स्वाभाविक जान पड़ता है। उससे प्रभाव भी पड़ता है। यदि कभी 'पात्र' को 'स्वगत' भी कुछ कहना हो तो भी उसकी भाषा में स्वाभाविकता रखनी चाहिए। 'स्वगत' में भी पात्र असाधारण नहीं हो जाता। वह बात करता है—अपने से। यह भी बातचीत ही हुई।

कहानी में विधि विधान! लोग पूछेंगे 'विधि-विधान' से क्या तात्पर्य्य? और कहानी-कला से इसका सम्बन्ध? बात यह है, प्रकृति के रहस्यों को समझना और उन्हें अपने काम में लाना ही 'मनुष्य' के विजय की चरमसीमा है। 'कला'—प्रकृति की मनुष्य-कृत कृति है। जीवन में कितनी ऐसी घटनाएँ होती रहती हैं जिन पर हमारा बस नहीं। होने को कुछ, होता है कुछ। महाराज दशरथ राम को युवराज पद देने की तैयारी करते हैं और उन्हे मिलता है, वनवास! उसी पर तुलसीदास ने लिखा—

'लिखत सुधाकर लिखिगा राहू।'

इन्हीं घटनाओं को हम 'विधि-विधान' कहते हैं। लेखक इस प्रकार की प्रकृति की चेष्टाओं को अध्ययन कर अपनी रचनाओं में उनका उपयोग करता है। उसकी 'सृष्टि' इन्हीं प्राकृतिक चेष्टाओं के 'आचरण' के अध्ययन के आधार पर कलात्मक होता है। कहानी लेखक को अपनी रचना में 'सत्य' का रूप खड़ा करना होता है। उस 'सत्य' को स्वाभाविक बनाने के लिए उसे सभी प्रकार की

प्रवृत्तियों की जानकारी रखनी होती है। यहाँ हम केवल एक ही प्रवृत्ति 'विधि-विधान' का उपयोग बतलाते हैं।

'विधि-विधान' की परिभाषा करना कठिन है पर उसे इस प्रकार समझिए। जिस समय घटनाओं का आचरण ऐसा होने लगे मानो 'अदृष्ट' कुटिलता-पूर्वक उनसे खेल रहा हो। हम आशा करते हैं कुछ और होता है उसके विपरीत। ऐसे अवसर पर हम उसे 'विधि-विधान' कहेंगे। हम भारतीय भाग्यवादी हैं, अन्यथा 'विधि' शब्द को छोड़कर हम विधि-विधान के लिए कोई दूसरा पर्याय सोचते।

'विधि-विधान' का आश्रय लेकर कहानी-लेखक अपनी कहानी में अच्छा चमत्कार ला सकता है। प्रायः दुःखान्त कहानियों में तो 'विधि-विधान' के भरोसे गहरी ट्रेजेडी बनाई जा सकती है। उदाहरण के लिए यहाँ दो प्लाट देते हैं।—

(१) एक दपति का हाल ही में विवाह हुआ था। दोनों एक दूसरे को प्रसन्न करने की बात सोचते हैं। बड़े दिन का त्योहार निकट आता है। पति-पत्नी एक दूसरे को उपहार देना चाहते हैं। पति के पास घड़ी है पर चेन नहीं। पत्नी सोचती है उसे चेन खरीद दूँ। पत्नी के बाल बहुत सुन्दर हैं। पति सोचता है उसके लिए सुन्दर कंघी खरीद दूँ। दोनों ग़रीब हैं। पैसों की

है। इसी बीच पुलिस उसे इस अपराध पर गिरफ़्तार कर लेती है कि उसका इरादा ख़राब था। वह प्रसन्नतापूर्वक जेल चला जाता है।

इस प्रकार 'विधि-विधान' का आश्रय लेकर यदि हम चाहें तो बहुत से सुन्दर प्लाट बना सकते हैं। कहानी-कला के उन अङ्गो पर ध्यान देना चाहिए।

कहानी में अनेक दोष होते हैं। उनमें 'व्यर्थ' भी एक भारी दोष है। 'व्यर्थ' से हमारा तात्पर्य्य उन अप्रासंगिक वर्णनों से है जिनके बिना कहानी 'पूरी' रह सकती है। कहा जाता है साहित्य जीवन की व्याख्या है। इसे सत्य मानते हुए हम कहानी को जीवन की सच्ची झाँकी कहेंगे यद्यपि यह झाँकी उपन्यास की भाँति सम्पूर्ण वा सर्वाङ्गपूर्ण न होकर एकागी कही जायगी। यदि उपन्यास सम्पूर्ण जीवन का चित्र माना जाय तो कहानी एक स्नैपशाट् वा एक 'मुद्रा' का चित्र।

कहानी-लेखक और इतिहासकार दोनों का काम घटनाओं का शृङ्खला-बद्ध लेखन करना होता है। पर दोनों में महान् अंतर है। इतिहासकार सभी घटनाओं का चयन
, पर कहानी-लेखक केवल उन्हीं को चुनेगा जो उसके
। इतिहास और कहानी में यही अंतर है। एक
घटनाओं का कालक्रम से सविस्तार
र्य का संबन्ध दिखलाना है।

पर लग गया। सारा नक़शा ख़राब हो गया। बेचारे की सारी मेहनत और आशा नष्ट हो गयी।

ऊपर के दोनों प्लाट दुःखान्त हैं, पर दोनों में अंतर है। एक का परिणाम उतना दुखान्त नहीं जितना दूसरे का। एक मे दपति का एक दूसरे के प्रति आकर्षण बढ़ता है। दूसरे में दोनों के बीच उलटा वैमनस्य उपन्न होता है।

'विधि-विधान' का आश्रय लेकर 'सुखान्त' प्लाट भी बनाये जा सकते हैं। यदि परिणाम हानिकारक न हो तो वह सुखान्त होगा। सुखान्त और दुःख—में मुख्य बात मनोरथ का पूर्ण वा अपूर्ण होना है। सुखान्त का एक उदाहरण लीजिए। ओ० हेनरी की एक कहानी है—

एक क़ैदी जेल से छूटकर दुखी रहता है। सर्दी में उसे बाहर कष्ट होगा। खाने-पहनने को उसके पास धन नहीं। कोई काम मिलने की आशा नहीं। इसलिए वह सोचता है, कोई अपराध करे जिसमें शीघ्र जेल भेज दिया जाय। चारों तरफ भटकता है। अपराध करने का अवसर नहीं मिलता। कोई उसे गिरफ़्तार नहीं करता। अन्त मे वह अपना विचार बदल देता है। भले आदमी की तरह रहना चाहता है। घूमते-घामते वह गिरजे के सामने पहुँचता है। प्रार्थना हो रही है। वह बाहर खड़ा होकर सोचने लगता है—'जीवन में कुछ है नहीं। मनुष्य को धर्म करना चाहिये।' इसी विचार में मग्न वह खड़ा रहता

सीखना होगा, जिससे वे भद्दे और बेढंगे न हो जायँ। उसे इस बात पर ध्यान रखना होगा कि उसके पूर्ण उपन्यास को पढ़ते समय पाठक बराबर उसके साथ रहें— उनका ध्यान बराबर उसे पढ़ने में लगा रहे।

उपरोक्त सारी बातें यदि हम 'जन्मसिद्ध प्रतिभा' के भरोसे छोड़ कर बैठ जायँगे तो निश्चय एक ही दो स्वयं-भूत उपन्यासकार दिखाई पड़ेंगे। ऐसे सिद्धान्तो से काम नहीं चलेगा। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो संसार की समस्त कलाओ के विकास और प्रचार मे अभ्यास का ही प्रधान हाथ रहा है; अन्यथा उन कलाओं के जाननेवाले फिर एक ही दो दिखाई पड़ते। अतः, इस युग में 'अभ्यास' की उपादेयता का उपहास नही किया जा सकता। इ० एफ० बेनसन का कहना है कि उपन्यासकार के लिए केवल दो बाते (विशेषताएँ) होनी अपेक्ष्य हैं। एक तो मार्के की बातों को प्रत्यक्षीकरण करने की शक्ति, और दूसरे उन्हे सीधी-सादी भाषा में लिपिबद्ध करने की क्षमता। दोनो बाते परिश्रम और अभ्यास से प्राप्त हो सकती हैं। यदि लेखक जीवन मे होनेवाली घटनाओ मे से आवश्यक (महत्त्वपूर्ण) और अनावश्यक (साधारण) में विभेद करना सीख जाय, यदि वह ऐसी घटनाओ को चुन सके जिनके आधार पर अच्छा 'रूपक' रचा जा सकता हो तो उसे उपन्यासकार होते अधिक कठिनाई न हो।

आरंभ में है उतनी ही कठिनाई उसमें सफलता प्राप्त करने में है। कारण स्पष्ट है कि साहित्य-रचना में लेखक का अपना व्यक्तित्व, प्रतिभा, अभ्यास ही प्रधान अंग हैं। और इसी हेतु लेखक की कला कठिन और अधिक महत्त्व की मानी जाती है। अस्तु।

उपन्यास-लेखक को आरंभ में ही इसे सीखना आवश्यक है कि वह जीवन का प्रत्यक्षीकरण कैसे करे। फिर अपने अनुभवों के परिणाम का उपयोग करना उसे सीखना है। उसे कल्पना से काम लेने का अभ्यास करना होगा। अपनी कल्पना से उद्भूत चित्रों को लिपिबद्ध करने की कला सीखनी होगी। उसे अपने उपन्यास के लिए 'कथा-वस्तु' के ताने-बाने को ऐसी कुशलता से बुनना सीखना होगा जिसमें उसका बुना हुआ 'कथानक' कला-पूर्ण हो। अपने उपन्यास में व्यक्तित्व की छाप देने के लिए उसमें मौलिकता भी लानी होगी, क्योंकि यदि यह न होगी तो उसकी रचना में कोई नवीनता न रहेगी—वह फिर उसकी अपनी वस्तु कैसे कही जायगी? इसके अतिरिक्त उसे अपने 'पात्रों' को सजीव बनाना होगा। उनके कथोप-कथन की गति का ऐसा नियंत्रण करना होगा कि धीरे-धीरे कथा का विकास होता चले और उसमें शिथिलता न आवे—उसे पढ़कर पाठक ऊबें नहीं। उसे अपने उपन्यास के अंग-प्रत्यंग में सुडौलता और सौन्दर्य लाने का अंदाज

महान् लेखक एच० जी० वेल्स ने साधारण शिक्षा ही ग्रहण की थी। भारत के स्वनामधन्य लेखक टैगोर के विषय में यही कहा जाता है। अब यह निश्चय हो जाता है कि साहित्यकार के लिए स्कूल-कालिज की शिक्षा विशेष उपयोग की नहीं। अतः, उपन्यासकार को अपनी कला का ज्ञान स्वयं अर्जन करना होगा। उसका अपना व्यक्तित्व, अपनी व्याख्या, अपनी विचारशैली तथा कल्पना और दृष्टि-कोण आदि ही उसकी कला को सफल बनाने में सहायक होंगे।

उपन्यासकार बनने की इच्छा रखने वाले लेखक को सर्वप्रथम इस बात को अपने मन से निकाल देना चाहिए कि वह अपने परिश्रम से कुछ भी नहीं प्राप्त कर सकता, और उसे अपनी कला में सफल मनोरथ होने के लिए 'ईश्वरी देन' की प्रतीक्षा करनी होगी, फिर उसे अपने उपन्यास के लिए कथा की खोज करनी चाहिए।

उपन्यास में 'कथा-वस्तु' प्रधान अंग है। उसे किस प्रकार कहा जाय यद्यपि यह भी आवश्यक है—पर उतना नहीं। जिस उपन्यास में 'कथा' ही नहीं वह लेखक की 'शैली' के भरोसे रुचिकर नहीं बनाया जा सकता। अब 'कथा' के लिए इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि केवल एक-दो घटनाओं के आधार पर उपन्यास नहीं खड़ा किया जा सकता। उपन्यास का चित्र-विस्तृत होता है। उसमें जीवन की विस्तृत

प्रतिभा' से काम न चलेगा। यदि लेखक ध्यान रख कर अभ्यास करे तो वह, कथा-वस्तु की बहुत सी घटनाओं को सुचारु रूप से यथास्थान रखना, अपने पात्रों को सजीव रूप से आचरण कराना आदि सीख सकता है। अब यह प्रश्न सामने आता है कि उपन्यास रचना की इच्छा रखने वाले लेखक ये सारी बातें कहाँ सीखें?

यह हम पहले कह चुके हैं कि लेखकों की शिक्षा के लिए स्कूल और कालिजों से नहीं काम चलेगा। एक प्रसिद्ध उपन्यासकार का कथन है कि विश्वविद्यालय की किसी प्रकार की शिक्षा या भाषा-ज्ञान उस व्यक्ति के काम की नहीं जो समाज में अपने आस-पास के स्त्री-पुरुषों का मनोरंजन करना चाहता है। उपन्यासकार को विचारों से काम लेना चाहिए। चिन्तन, कल्पना और अनुवीक्षण ही उपन्यासकार के लिए उपयोगी वस्तुएँ हैं। इनके अतिरिक्त उसमें जन-समाज के सुख-दुख के प्रति नैसर्गिक सहानुभूति होनी चाहिए। ये सारी बातें आधुनिक शिक्षालयों के पाठ्यक्रम और शिक्षण-पद्धति के परे की बातें हैं। यदि उपन्यासकारों में देखा जाय, तो उनमें कितने ऐसे सफल उपन्यासकार मिलेंगे जिनकी शिक्षा बिल्कुल साधारण थी। जे० डी० ब्रेसफ़ोर्ड तो इस पर दुख प्रगट करते हैं कि वर्तमान युग के महान् लेखकों को देखकर तो शिक्षालयों की शिक्षा में विश्वास करना कठिन है। वर्तमान युग का

है। इसी हेतु सर मैक्स पेम्बरटन नव-लेखकों को उपदेश देते समय कहते हैं—ढूँढ़-ढूँढ़ कर अच्छे उपन्यास पढ़ो, प्रसिद्ध उपन्यासकारों की रचनाएँ तो निश्चय पढ़ो। इसके पश्चात् उन में से जो लेखक तुम्हें पसन्द आवें उनका अनुकरण करो।" यहाँ एक शंका होती है कि उपन्यास नये वा पुराने पढ़े जाँय इसका सीधा उत्तर यही है कि वर्तमान साहित्य की प्रगति से निकटम प्राचीन उपन्यास पढ़े जा सकते हैं। तात्पर्य यह है कि हमे उसी वस्तु को देखना है जिनका उपयोग हम इस युग में कर सके। जिनकी शैली अब अप्रचलित हो चुकी है, जिनकी कल्पना और विचार-पद्धति अब लोग नहीं पसन्द करते, उसे पढ़कर व्यर्थ समय नष्ट करना होगा।

अपनी रुचि के उपन्यास की शैली पर, नवसिखुए लेखक को पहले अपने उपन्यास का ढाँचा खड़ा करना चाहिए। यद्यपि यह 'नक़ल' होगी पर यह तरीक़ा राबर्ट लुई स्टिवेन्सन ऐसे आचार्य्यों ने भी अच्छा समझा है। प्रायः सभी अच्छे, नामी उपन्यासकारों ने अपना आरम्भ इसी प्रकार किया था। किसी ने पूछा था कि क्या केवल पढ़ने मात्र से उपन्यास लिखना आ जायगा? इसके उत्तर में यह कहा गया था कि केवल उपन्यास पढ़कर उपन्यास नहीं लिखा जा सकता। हमें दुख से कहना पड़ता है कि हिन्दी में अधिकतर उपन्यास, उपन्यास पढ़कर ही लिखे जा

रहे है। इसी कारण हिन्दी उपन्यास की श्रेष्ठता सदिग्ध रहती है और वे उतने अच्छे नहीं होते जितना भारत के अन्य भाषाओं के उपन्यास। उपन्यास पढ़कर लेखक को इसका अध्ययन करना होता है कि अच्छे-अच्छे लेखको ने किस प्रकार सोचा है। उन्होंने कौन सी वस्तु कैसे कहाँ पर रक्खी है। उन्होने अपने विचार कैसे प्रकट किए हैं। संक्षेप मे हमें उपन्यास पढ़कर सफल उपन्यासकार की शैली से परिचय प्राप्त करना होता है उसकी कला का साक्षात करना होता है। अस्तु, यह स्पष्ट है कि केवल पढ़कर उपन्यास नहीं लिखा जा सकता। इसके अतिरिक्त लेखक को वास्तविक जीवन का अनुभव भी करना चाहिए; उसका प्रयोग सीखना चाहिए। अपने अनुभव की वस्तु—ज्ञान—सदा उत्तम होता है। इसी कारण कुछ लोगों ने उपन्यास-लेखक की आयु निर्धारित की है। कुछ लोगों का मंतव्य है कि प्रौढ़ता प्राप्त करने पर ही उपन्यास लिखने की चेष्टा करनी चाहिए। देखा गया है कि लोगों ने साठ वर्ष के ऊपर होकर लिखना आरम्भ किया है और सफल लेखक हुए हैं। इसी तरह तेरह वर्ष की आयु में भी कुछ लोग सफल उपन्यासकार हो चुके हैं। ऐसी दशा में उपन्यासकारों के लिए कोई एक आयु नही निश्चित की जा सकती। परन्तु यह मानना पड़ेगा कि जिस का जितना अनुभव होगा, वह उतना ही अच्छा लेखक होगा। साधारणता, लोग ३० वर्ष की आयु मे उपन्यास-

कार की सफलता मानते हैं। एच० जी० वेल्स का दृढ़ विश्वास है कि प्रौढ़ होने की आयु से पूर्व कोई सफल उपन्यासकार नहीं हो सकता। उनका तर्क है—

"Work essentially imaginative, or essentially superficial, a man of twenty or thirty may do quite as well as a man of forty Romance of all sorts, the fantastic story, the idealistic novel, even novel of manners, these are the works for the young perhaps, even more than the old But to see life clearly and whole, to see and represent it with absolute detail, with absolute justice, above all with evenly balanced sympathy, is an ambition permitted only to a man full grown"

सारांश यह कि जीवन का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने पर ही उपन्यास-लेखक सफल लेखक हो सकता है। व्यवहार में देखा गया है कि प्रायः सफल उपन्यासकारों ने तीस वर्ष की आयु में उपन्यास-रचना प्रारम्भ की है। आर्नल्ड बेनेट ने अपना प्रथम उपन्यास तीस वर्ष की आयु में लिखा था। थियोडोर ड्रेसर ने उन्तीस वर्ष की अवस्था में, गाल्सवर्दी ने तीस वर्ष की आयु में, वेल्स ने उन्तीस वर्ष, सिंक्लेयर लीविस

उपन्यास में गद्य का प्रयोग प्रायः होता ही है। अतः जो लेखक अच्छी शैली में नहीं लिख सकते, जिनके पास शब्दो की कमी है, जिन्हे विचारों को प्रकट करने के अनेक प्रकार के तरीक़े नहीं मालूम हैं—उनके लिखे उपन्यास बड़े ही उखड़े-पुखड़े होते हैं। पाठकों का, उसे पढ़ते समय मन नहीं लगता; वे घबरा कर उसे अलग रख देते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि यदि उपन्यासकार लिखना नहीं जानता, यदि वह रोचक भाषा और शैली में अपने विचार प्रगट नहीं करना जानता, तो उसका उपन्यास, फिर केवल घटनाओ, संयोग और वियोग की अनुभूतियों के भरोसे नहीं खड़ा हो सकता। उपन्यास केवल घटनाओं, और अनुभूतियों की सूची नहीं है; वरन् उसमें ऐसा वर्णन करना होता है, इस प्रकार क्रम देना होता है कि पाठक अपने को भूल कर, उपन्यास के लोक के प्राणी बनकर, पात्रों के साथ उनके सुख-दुख का प्रत्यक्षीकरण कर सकें।

अतः यह सोचना भ्रमपूर्ण है कि जब चाहेंगे उपन्यास लिख डालेंगे। उसके लिए निरंतर अभ्यास, अध्ययन, चिन्तन और लेखन की अपेक्षा करनी होगी। लेखक को प्रथम अपनी भाषा और शैली पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना चाहिए—उसे यह कला सीखनी चाहिए कि विचारों को थोड़े शब्दों मे, मौलिक रूप से, प्रगट कर सके, उसे जानना चाहिए कि परिस्थियों का उपयोग उत्तम रूप से कैसे हो,

अच्छा रंगमंच न मिला, उसमें आवश्यक परदे, रोशनी, सजावट के सामान आदि न मिले तो नाटक बहुत फीका पड़ जाता है। इस पर भी यदि नाटक के पात्रों के लिए अच्छे अभिनेता न मिले तो फिर नाटक कभी सफल हो ही नहीं सकता।

नाटक का लेखक जब नाटक की रचना करता है तो वह अपने मस्तिष्क में एक ऐसे जगत् की सृष्टि करता है जिसका केवल एक ही अंश वह लिपिबद्ध करता है। वह है, उसके काल्पनिक-जगत् के पात्रों की 'बात-चीत' तथा 'व्यापार'। परन्तु जितना वह लिखता है उससे कहीं अधिक वह लिख नहीं पाता। उसकी पूर्ति उसकी रचना (नाटक) के अभिनय करनेवाले करते हैं। अतः यह मानना पड़ेगा कि नाटककार अपनी कला की सफलता के हेतु पराधीन है। इसीलिए मिस्टर गार्डन ली (Garden Lea) कहते हैं, 'So is a dramatist confined—he can soar only as far as the chains of theatric conventions permit'—अर्थात् नाटक के लेखक की गति अविरुद्ध है; वह उतना ही जा सकता है जितना रंगमंच उसे अवसर दे। अतः नाटक का लेखक अपनी कला का एक मात्र संचालक नहीं है और सर्वांगपूर्ण, स्वाधीन रचना नहीं कही जा सकती।

... की दृष्टि से हमें 'स्वाधीन' और

९

रूपक और रेडियो ड्रामा

एक समय था जब रूपक केवल अभिनय के लिए लिखा जाता था। धीरे-धीरे रूपक 'दृश्य' न होकर 'श्रव्य' भी होता जा रहा है। आजकल हिन्दी में जितने नाटक प्रकाशित हो रहे हैं उनमें से कठिनता से पाँच प्रतिशत अभिनय के काम में आते होंगे। परन्तु नाटक वा रूपक का मुख्य स्थान रंग-मंच ही है। लेखक अपने विचारों को जब 'रूपक' के माध्यम द्वारा प्रकट करने की इच्छा करता है तब उसकी रचना स्वतः सर्वांगपूर्ण न होकर अनेक अन्य उपकरणों की अपेक्षा करती है।

यदि आपने कभी नाटक देखा होगा तो आपको ज्ञात होगा कि लेखक की रचना, जिसमें कथोपकथन, वा कुछ रंगमंच के परिवर्तन वा पात्रों के वेश संबधी आदि सूचनाएँ होंगी, स्वतः सारा कार्य्य नहीं सम्पन्न कर लेती। नाटक की सफलता के हेतु अनेक उपादान आवश्यक होते हैं। पहला तो रंगमंच है जिसमें नाटक के अनुरूप वातावरण बनाया जा सके। फिर अभिनेतागण हैं। यदि

समाचार आदि भेजे जायँ और लोग उसे घर बैठे सुनें। इस प्रकार समाचार आदि भेजने को 'ब्राडकास्ट' करना कहते हैं और ऐसे स्थानों को जहाँ से ब्राडकास्टिंग होता है 'ब्राडकास्टिंग स्टेशन' कहते हैं। ब्राडकास्टिंग स्टेशनों पर नियत समय पर लोग गाने बजाने वा व्याख्यान आदि करते हैं और वह सारा का सारा रेडियो द्वारा सब स्थानों पर सुनाई पड़ता है। जिसके पास 'रिसीविंग सेट' है वह घर बैठे उसका आनन्द लेता है। आप कमरे में बैठे-बैठे देहली वा, कलकत्ता में होते हुए गाने आदि को सुन सकते हैं।

इन ब्राडकास्टिंग स्टेशनों के व्यवस्थापकों को ऐसे नाटकों की आवश्यकता रहती है जिसे वे ब्राडकास्ट कर सकें। उन्हें रेडियो-ड्रामा कहते हैं। उसमें रंगमंच, वेश भूषा, परदे, प्रकाश आदि की आवश्यकता नहीं। यह एक प्रकार का 'श्रव्य रूपक' होता है। आप घर बैठे, केवल सुनकर समझ लेते हैं कि अमुक पात्र क्या कर रहा है, क्या कह रहा है। इस प्रकार के रेडियो ड्रामा के लिखने की एक अपनी कला है इसे जान लेने के पूर्व रेडियो ड्रामा लिखने का प्रयत्न न करना चाहिए।

रेडियो ड्रामा की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। रूपक में अभिनेता केवल बात-चीत ही नहीं करते वरन् उनकी भाव-भंगी आदि भी दर्शक देखते हैं। रेडियो ड्रामा में दर्शक तो

'सर्वांगपूर्ण' रचना की खोज हो तो हम या तो उपन्यास लिखें या चुप मार जायँ ? परन्तु यदि नाटककार उपन्यास-कार न बनकर नाटककार ही रहना चाहे और रंगमंच के प्रतिबंधों से मुक्त रहकर यदि सफल नाटककार बनना चाहे तो वह क्या करे ? इसका एक मात्र उत्तर है—रेडियो ड्रामा लिखना।

रेडियो क्या है ? यह बहुत पुरानी चीज़ नहीं। अभी थोड़े ही दिनों से भारत में इसका व्यवहार होने लगा है—प्रचार तो अभी भी उसका बहुत अधिक नही हो पाया। परन्तु लेखकों के व्यवसाय की दृष्टि से रेडियो ड्रामा की माँग होने लगी है और रेडियो ब्राडकास्टिंग कम्पनियाँ इस प्रकार की रचनाएँ चाहती हैं।

'हमारे बहुत से लेखक कदाचित् रेडियो के विषय में अनभिज्ञ हों। अतः पहले उनके लिए उसका थोड़ा सा परिचय देना उचित होगा। रेडियो द्वारा बिना तार के सम्बन्ध हुए ही समाचार भेजे जा सकते हैं। इसके लिए आप को अपने घर पर एक 'सेट' रखना होगा जिसमें रेडियो 'रिसीवर' होगा और आप अपने घर बैठे दूर के समाचार, गाने आदि सुन सकेंगे। रेडियो द्वारा अब प्रायः सभी शहरों में लोग घर बैठे गाने आदि सुनते हैं।

भारत में सरकार ने देहली, कलकत्ता, बम्बई आदि स्थानों पर इसका प्रबन्ध कर रखा है कि वहाँ से गाने,

कल्पना, का अनुभव अपनी कल्पना द्वारा करते है । नाटक में हम उसे प्रत्यक्ष रूप में (पात्रो, रंगमंच आदि) देखते है। परन्तु नाटक हमें स्थान-स्थान पर कृत्रिमता का अनुभव कराता रहता है। हम यह नहीं भूलते कि यह अभिनय है। यह रंगमंच जैसे संकुचित स्थल पर हो रहा है। रंगमंच और नाटक का अविच्छिन्न सम्बन्ध ही रूपक की परिधि को संकुचित बनाता है। अतः जितने विस्तार और स्वाभाविक रूप में कल्पना, उपन्यास वा कहानी आदि में विहार करती है उतना नाटक में असम्भव है; इसी लिए नाटक को कुछ लोग second hand affair कहते हैं। परन्तु इसी के साथ हम उपन्यास को भी कल्पना ही कह सकते हैं। उसमें 'साक्षात्' की कमी है।

उपरोक्त दोनो कमी रेडियो ड्रामा में नहीं है। मिस्टर गार्डन ली कहते हें "It is reality itself, not an isolated expression of imagination, but imagination itself रेडियो मे नाटक की कृत्रिमता नहीं, उपन्यास की 'केवल कल्पना' नही। उसमें हम कानो से सुनते हैं; कल्पना-द्वारा 'शेष' का अनुभव करके आनद लेते हैं। जिस प्रकार हम एक कमरे मे बैठे हुए दूसरे कमरे में बैठे दो व्यक्तियों की बातचीत सुनकर, उस कमरे से आने वाली आवाज़ को सुनकर किसी 'तथ्य' पर पहुँ-चते हैं, उसी तरह हम रेडियो द्वारा ब्राडकास्टिग

होते ही नहीं। होते हैं केवल श्रोतागण। वे अपने कमरे में बैठ केवल कानों से सुनते हैं। देखने के लिए वहाँ कुछ रहता भी नहीं। रेडियो ड्रामा मे सारी बाते केवल शब्दों द्वारा ही प्रकट करनी होती हैं। रूपक में जो कार्य्य परदा, भूमिका, सजावट या प्रकाश-व्यवस्था आदि से होता है, वह भी रेडियो ड्रामा में असंभव है। अतः रेडियो ड्रामा लेखक को रूपक के समस्त बाह्य सहायक उपादानों को अपनी रचना-कला द्वारा अपने रेडियो ड्रामा मे, शब्दों से प्रकट करना होता है। साराश यह है कि रेडियो ड्रामा में नाटक की सारी बाते शब्दों द्वारा ही प्रकट करनी होती है। वहाँ नेत्रों के लिए कुछ नहीं है। जो है वह कानों के लिए और कल्पना के लिए।

कहते हैं कला कल्पना की व्यंजना है। कलाकार अपनी कल्पना मे उद्भूत अनुभूति वा अनुभव को रचना द्वारा प्रकट करता है। रचना चाहे शब्दो के रूप मे हो, चाहे स्वरो के रूप मे, चाहे रेखाओं के, चाहे मूर्ति रूप मे हो। यही व्यंजना संसार मे अनेक ललित कलाओं की उत्पत्ति करती है। हम लेखक हैं हमारी कल्पना साहित्य रूप मे प्रकट होती है। इसमे कविता है, उपन्यास है कहानी, नाटक आदि हैं। नाटक मे जो कृत्रिमता है वह उपन्यास में नहीं। परन्तु नाटक में जो वास्तविकता है वह उपन्यास में नही। उपन्यास मे हम कलाकार की

क्षण भर सोचे तो उसे स्पष्ट हो जायगा कि पात्र वा पात्री के आचरणों का विशेष ध्यान न कर हम अभिनेता वा अभिनेत्री की प्रसिद्धि से प्रभावित होकर 'खेल' पसन्द करते हैं। उनकी वेशभूषा, उनके शरीर का गठन, सौंदर्य आदि हम पर अधिक प्रभाव डालते हैं। उस खेल की सफलता 'कला' की परिपक्वता के कारण नहीं, वरन् अन्य उपकरणों पर अधिक आश्रित रहती है। वहाँ भरे हुए 'हॉल' में आप अपनी व्यक्तिगत रुचि का गला घोटकर जनता की हाँ में हाँ मिलाने लगते हैं। रेडियो ड्रामा में यह बात नही है। आप 'हॉल' वाली मनोवृत्ति से मुक्त हैं। आप अपने घर पर अकेले शान्तिपूर्वक आराम से बैठे हैं; केवल कानो से सुनते हैं; आँखे मूँदे कल्पना द्वारा समझते हैं। ऐसी अवस्था में आप 'स्वतन्त्र आलोचक' रहते हैं। इसलिए रेडियो ड्रामा के लेखक का कार्य रूपक-रचयिता से कठिन है। रूपक-रचयिता दर्शक समूह को प्रसन्न करता है; रेडियो ड्रामा-लेखक, एक व्यक्ति को। और यह आवश्यक नहीं कि जो एक को पसन्द आवे वह जन-समूह को भी पसन्द आवे। रेडियो ड्रामा-लेखक का कार्य कठिन है। उसकी सफलता की परख सच्ची होती है। उसकी सफलता तभी होती है। जब वह 'सत्य' के अधिक निकट हो। यदि वह श्रोता को रस का अनुभव करा सकता है तो वह सफल ड्रामा-लेखक है।

रेडियो ड्रामा दो प्रकार से लिखे जाते हैं। एक

स्टेशन पर होने वाले 'अभिनय' को कानों से सुनकर समझते हैं।

रेडियो ड्रामा में वे समस्त बातें सम्भव हैं जो रंगमंच पर 'असम्भव होती हैं। आप 'कथोपकथन' द्वारा समस्त वस्तुओं का वर्णन करके श्रोता को उसका अनुभव करा सकते हैं। प्राचीन समय में जब 'परदे' नहीं थे तो यह कार्य वर्णन द्वारा संपन्न होता था। हमारे संस्कृत नाटक तथा शेक्सपियर के नाटक इस के प्रमाण हैं। वास्तविकता के लिए आवाज़ द्वारा बहुत सी आवश्यक वस्तुओं की उपस्थिति का अनुभव कराया जा सकता है।

रेडियो ड्रामा और रूपकों में क्या अन्तर है, यह स्पष्ट हो गया होगा। दोनों में महान् अतर है, एक 'दृश्य' है, दूसरा 'श्रव्य'। और दोनो ड्रामा हैं रेडियो ड्रामा लिखने का प्रयत्न करने के पूर्व रेडियो की आवश्यकताएँ अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। रेडियो ड्रामा के अभिनेता केवल 'मुख' से काम करते हैं। उसके दर्शक'—या श्रोता बहुत सख्या मे नहीं रहते। श्रोतागण 'अकेला' होता है और एकात में 'जनता' की रुचि के अनुसार नहीं, वरन् अपनी रुचि के अनुसार रेडियो ड्रामा का आनन्द लेता है। अगर हम नाटक देखने जाते हैं तो प्रायः हम अभिनेता की प्रसिद्धि से प्रभावित होकर अपनी व्यक्तिगति रुचि से काम नहीं लेते। जिसने सिनेमा या टॉकी देखा होगा वह यदि

बातचीत के पूर्व और बीच-बीच में कथानक की शृङ्खला जोड़ता जायगा। इस प्रकार 'परिचायक' और ड्रामा के पात्र दोनों मिलकर ड्रामा समाप्त करते हैं। श्रोता, परिचायक से घटनाओं के क्रम का परिचय पाता है, पात्रों की बातचीत को सुनकर उसे समझता है।

दूसरे प्रकार का रेडियो ड्रामा लिखने की विधि है—सर्वांग-पूर्ण विधि। इसमें कहीं किसी की सहायता की ज़रूरत नहीं। श्रोता स्वयं सुनकर ही देश, काल, पात्र आदि सभी का परिचय पा जाता है। इसमें लेखक सारा परिचय पात्रो के कथोपकथन द्वारा देता है। जैसे,

"गुडमार्निंग प्रोफ़ेसर साहब, क्या मै आसकता हूँ ? आप किसी आवश्यक कार्य में व्यस्त तो नहीं हैं ? क्या लेक्चर तैयार कर रहे हैं ? आपने स्टडी तो खूब सजा रक्खी है। ये पुस्तके जान पड़ती हैं अभी आयी हैं। शेक्सपियर के नाटक हैं न। अच्छा यह टेबुल तो बड़ा ही सुन्दर आप ने मँगाया। आपको भी बड़ा शौक़ है कमरा सजाने का। मैंने आप जैसा सुरुचिपूर्ण आदमी कम देखा। आपका अध्ययनकक्ष जैसा शायद ही किसी के पढ़ने का कमरा हो। अरे दस बज रहे हैं। आपकी घड़ी ठीक है न !"

इस प्रकार बातचीत में स्थान और समय का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार के रेडियो ड्रामा मे क्रमिक विकास होता है। लेखक को सारी बाते बातचीत से व्यक्त करनी होती हैं।

है परिचयात्मक विधि (Narrator Method) दूसरा है सर्वांग-पूर्ण विधि (Self-contained Method)। रेडियो ड्रामा और साधारण नाटक में यह प्रधान अन्तर होता है कि उसमें समस्त बातें ऐसी होनी चाहिए जो शब्दों द्वारा प्रकट की जायँ, जिसमें 'श्रोता' सुन सके। साधारण नाटक में आप लिखते हैं—

स्थान—पाटलिपुत्र में अशोकाराम विहार।

समय—सायंकाल के पूर्व।

[कुछ भिक्षुओं का आना]

ये बातें रंगमंच के व्यवस्थापकों के लिये लिखी गई हैं। परन्तु रेडियो ड्रामा में लेखक को ऐसी बातें इस प्रकार व्यक्त करनी होंगी जिसमें श्रोता सुनकर समझ ले कि अमुक स्थान है, अमुक समय है और अमुक लोग आ रहे हैं। इस प्रकार पात्रों का पहनावा, कमरे की सजावट आदि सभी बातें बातचीत द्वारा ही प्रकट करनी होंगी।

उपरोक्त दृष्टि से जब साधारण रूपक को रेडियो के योग्य बनाना होता है तो परिचयात्मक विधि से ऐसा किया जाता है; जैसे उपरोक्त उदाहरण में सारी बातें एक 'परि-चायक' द्वारा कहलायी जायँगी और वह ड्रामा के आरंभ में कहेगा कि अमुक स्थान में अमुक समय है और अमुक पुरुष ऐसा-ऐसा परिधान पहने आ रहा है। यही परिचय देने वाला प्रत्येक दृश्य का परिचय देगा और पात्रों की

'आत्मीय' होगा कि वह 'ड्रामा' में विशेष आनन्द लेने लगेगा।

इसी तरह पात्रो की वेशभूषा के विषय में भी अधिक विस्तार मे न जाना चाहिए। सुननेवाला अपनी कल्पना से अपनी स्थितिके अनुसार अपने पात्र को 'पहना' लेगा; और उसका पात्र उसके जीवन से दूर न होगा। 'आज तुम बड़े ठाट से कहाँ जा रहे हो मदन !"—इतना सुनते ही 'श्रोता' मदन नामक किसी पात्र को अपनी कल्पना से अच्छे कपड़े पहना लेगा और उसका पात्र उसका परिचित सा लगने लगेगा। रेडियो ड्रामा के लेखक के लिए अपने 'श्रोता' की कल्पना को जगाना परम आवश्यक है।

बातचीत में लेखक को चाहिए कि एक पात्र से दूसरे पात्र का नाम इस प्रकार कहलाता जाय कि सुनने वाले को उन्हें पहचानने मे कठिनाई न हो और वह दोनों पात्रों की बातचीत सुनकर उनके 'लहजे' से उन्हें पहचान सके—अन्यथा वह उनकी बातचीत न समझ पायेगा।

रेडियो ड्रामा मे जहाँ प्रयत्न (action) हो, उसे इस प्रकार व्यक्त करना होगा कि सुननेवाले सुन सके। प्राचीन प्रणाली के नाटकों में 'स्वगत'—वा 'आकाश-भाषित' की प्रणाली थी। इस विधि से गुप्त भाव प्रकट कराये जाते थे। इनका प्रयोग रेडियो ड्रामा में सफलता-पूर्वक होगा।

इस तरह के रेडियो ड्रामा की रचना करते समय लेखक को कुछ बातों पर ध्यान रखना चाहिये। संक्षेप में वे नीचे दी जाती हैं।

पहली बात—जहाँ स्थान का वर्णन करना हो अथवा प्रकृति का वर्णन आवश्यक हो वहाँ लेखक को सक्षेप में ही कहना चाहिए। उपन्यास की तरह अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं। बातचीत में एक व्यक्ति कभी विस्तार पूर्वक उतना लम्बा वर्णन नहीं करता। नवीन युग में संक्षेप वर्णन करना स्वाभाविक समझा जाता है। दूसरी बात यह कि रेडियो ड्रामा को सुनने वाले अनेक स्थिति के लोग होते हैं; उन्हें स्वयं अपनी कल्पना से 'साक्षात्' करने के आनंद से वंचित करना ठीक नहीं। मान ले यदि लेखक लिखता है।

"मिस्टर मदन आप कहाँ हैं ?"

"मैं यहाँ हूँ—अपने सोने के कमरे मे। मेरी तबीयत कुछ ख़राब है।"

यहाँ सोने के कमरे का वर्णन ज़रूरी नहीं। प्रत्येक श्रोता अपनी कल्पना से सोने के कमरे की कल्पना कर लेगा। यदि लेखक उसका विपद् वर्णन करता है तो वह सुननेवालों के लिए दुरूह हो जाता है। नहीं तो 'सोने के कमरे' से प्रत्येक सुननेवाला अपनी आँखों देखा सोने का कमरा समझ लेगा और उसका अनुभव उसके लिए इतना

१०

हास्य और उसकी सृष्टि

हास्य क्या है, क्या कभी आपने इस पर विचार किया है ? मनुष्य के समस्त भावो में हास्य ही बड़ा अव्यक्त और परिभाषा की परिधि मे न आनेवाला है। हमारे प्राचीन आचार्य्यों ने इसे स्थायी भावो में से एक माना है। परन्तु हास्य की परिभाषा उन लोगो ने भी नही दी है। लक्षण दिये हैं, आलंबन और उद्दीपन गिनाए हं।

लेखन कला की दृष्टि से हास्य क्या है ? इसकी सृष्टि कैसे होगी ? किस अनुभूति को सतुष्ट करने से रचना में हास्य का पुट आवेगा आदि बातें ही लेखक के विशेष काम की हैं। हमें इसका ज्ञान रखना आवश्यक है कि हास्य का उद्रेक कैसे हो—उसकी सृष्टि करने में हम किन-किन उपकरणो की सहायता ले।

लेखने-कला की दृष्टि से हास्य पर विचार प्रगट करते हुए मिस्टर डी० नेबिल होर्वट लिखते हैं—

For the purpose of the free-lance writer, humour may be roughly described

रेडियो ड्रामा के आरम्भ में पात्रों का परिचय देना व्यर्थ है। इससे उसका आनन्द जाता रहता है। कला की दृष्टि से यदि धीरे-धीरे सारी बातें 'श्रोता' को प्रकट हों तो सबसे अच्छी बात है। मिस्टर ली कहते हैं—"The practice of giving a mind picture to the listener, before the play is actually performed is a weakness"

रेडियो ड्रामा का विस्तार अधिक न होना चाहिए। छोटे छोटे नाटक, या एक अंक के नाटक रेडियो के विशेष काम के होते हैं। भारत में अभी लेखकों का ध्यान इधर नहीं गया है। परन्तु जो रेडियो ड्रामा लिख सकें उन्हें अपनी रचना देहली या कलकत्ता के डाइरेक्टर आफ प्रोग्राम, इंडिया स्टेटस ब्राडकास्टिंग सर्विस के पास भेजनी चाहिए। स्वीकृत होने पर लेखक को प्रत्येक 'अभिनय' के लिए कुछ रायल्टी मिलती है। लेखक उसे पुस्तकाकार छपा सकता है; इसका हक वे लोग नहीं लेते। भारत में रेडियो ड्रामा का प्रचार बढ़ेगा। ब्राडकास्ट करने के लिए लिखते समय उसपर ध्यान रखना चाहिए कि उसकी भाषा सरल हो अन्यथा वह पसंद न होगी। 'विषय' चुनते समय अपने यहाँ के सर्वसाधारण की रुचि का ध्यान रखना चाहिए और यह भी स्मरण रहना चाहिए कि कथानक या प्लाट रोचक हो और उसका परिणाम शिक्षाप्रद भी हो।

---

(२) घर के लोग एकाएक घबरा उठे। कमरे के एक कोने एक बड़ा साँप गुडरी लगाकर बैठा था। महल्ले-वाले सुनकर दौड़े आये। साँप को मारने की तैयारी होने लगी। किसी की हिम्मत कमरे में घुसने की नहीं होती थी। आखिर एक हिम्मती आदमी ने लाठी लेकर कमरे मे प्रवेश किया। उसने साँप को मारने के लिए बड़ी सावधानी से काम लिया। दीवार से एक सीढ़ी लगाकर, उस पर चढकर बड़ी सतर्कता से उसने साँप पर 'लाठी-चार्ज' आरम्भ किया। एक, दो, तीन, चार—वह दनादन लाठी चलाये चला जा रहा था। "बस मार लिया अब मार लिया"—पुकार मच गयी। साँप अपनी जगह पर बिना हिले डोले पड़ा रहा। लोग दूर से लालटेन दिखाते हैं। कोई समीप नहीं जाता। अन्त में बहुत डरते-डरते लोग पास जाते हैं। साँप का कहीं पता नहीं। कुएँ की रस्सी, कुण्डलाकार लाठी की चोट से कुचली हुई वहाँ पड़ी है! भय से त्रस्त लोग हँसते-हँसते लोट पड़ते हैं।

ऊपर के उदाहरणों से पता चलता है कि एक में विरोधी विचार काम कर रहे हैं, दूसरे में आकस्मिक निराशा होती है। मनुष्य के आचरणो मे जहाँ कहीं 'ऊटपटाँगपन' आया हमें हँसी आती है; जहाँ कहीं हम 'साधारण' को 'असाधारण' वा 'असाधारण' को 'साधा-रण' महत्त्व देते हैं हमें हँसी आती है। बहुत साधारण

as the apt conjunction of contrasting ideas Examine any humorous composition, which has caught your fancy, and you will find that your laughter was provoked mainly by contrast —स्पष्ट है कि विरोधी विचार हास्यरस का उद्रेक करते हैं।

हमें हँसी कब और क्यों आती है ? साधारण जीवन में हम जिन वस्तुओ और विचारों को जैसा पाते हैं वे हमारे लिए हँसने की वस्तु नहीं। हम उनमे कोई 'असाधारणता' वा अलौकिकता नहीं पाते। परन्तु यदि उनमें कोई अस्वाभाविकता वा आकस्मिक परिवर्तन आ जाय तो हमें हँसी आने लगती है। जिसकी हम आशा नही करते, कल्पना नहीं कर पाते—उसी बात से हमें हँसी आती है। हँसी के दो कारण होते हैं—'विरोधी विचार' और 'आकस्मिकता' उदाहरणार्थ:—

(१) बहरे आदमी ने अपने बीमार पड़ोसी के पुत्र से पूछा,—"कहो जी तुम्हारे पिता कैसे हैं ?" पुत्र ने उत्तर दिया, "कैसे क्या, घड़ियाँ गिन रहे हैं।" बहरे ने जाने क्या समझा। उसने उत्तर दिया, "ईश्वर को धन्यवाद दो; आदमी के जितने दिन अच्छी तरह बीत जायँ उतना शुक्र है।"

लेखक हास्य द्वारा कुछ सुझाना व समझाना चाहता है। विनोद उद्देश्य-हीन शुद्ध हास्य है। उसका उद्देश्य केवल हँसाना है। व्यंग्य सामाजिक कुरीतियों को मिटाने का बहुत ही सुन्दर साधन है; विनोद समय बिताने का मनोरंजक उपादान भी है। हिन्दी साहित्य में दोनों की कमी है और दोनों ही की आवश्यकता है।

समाज में इतने प्रकार की बेढंगी बातें हैं और होती रहती हैं कि उन पर अच्छा व्यंग्य लिखा जा सकता है। नित्यप्रति जीवन में ऐसी अनेक घटनाएँ होती रहती हैं जिन पर अच्छे 'विनोद' की सृष्टि हो सकती है। लेखकों को इसकी शिकायत रहती है कि उन्हे 'विषय' नहीं मिलते। वास्तव में वस्तु की उतनी कमी नहीं जितनी ढूँढ़ने वालों की। "गुण ना हिरानो गुणगाहक हिरानो है"—वाली कहावत इस पर ठीक चरितार्थ होती है।

शेक्सपियर ने एक स्थान पर लिखा है—'A good wit will make use of anything' यदि आपमें हास्य की परख है, यदि आपमें इस रस की अनुभूति है तो आपको 'वस्तु' वा 'विषय' की कमी न रहेगी। फिर भी लेखक को कुछ ऐसे उपाय बतलाने पड़ेंगे जिसकी सहायता से वह हास्य रस का अनुभव कर सके, और अपनी रचनाओं के लिए निमित्त सामग्री एकत्र कर सके। लेखक को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसका मस्तिष्क 'हास्य'

श्रेणी के लेखक मार-पीट, गिरना-पड़ना, गाली-गलौज आदि की सहायता से हास्यरस का उद्रेक करते हैं, पर ये साधन वा हथकण्डे बड़े ही 'असाहित्यिक' हैं। सभ्य और शिक्षित पाठक के लिए ऐसे हास्य की आवश्यकता है जिसे पढ़ने और समझने पर हँसी आये। शिष्ट हास्य वा Intellectual Humour उसके लिए है जो तर्क शक्ति से अच्छी तरह काम ले सकता है और जो तर्क-शैली की खराबियों को बहुत जल्दी भाँप लेता है। Fallacy वा 'भ्रम' के आधार पर शिष्ट हास्य की सृष्टि होनी चाहिए।

हिन्दी में हास्य रस की रचनाओं की बड़ी कमी है और विशेष कर शिष्ट हास्य विषयक। इस ओर लेखकों को ध्यान देना चाहिए। हास्य रस पर लिखने के पूर्व लेखक को अपने दृष्टिकोण को निश्चित करना पड़ेगा। यदि वह अपने मस्तिष्क को वैसा बना लेगा तो संसार की सारी बातों में उसे हास्य की सामग्री मिलेगी। परन्तु हास्य का अर्थ केवल हँसना ही नहीं है। यदि आप समस्त वस्तुओं पर हँसते रहेंगे तो लोग आपको मूर्ख समझेंगे। मूर्खता हास्य का पर्याय नहीं—वरन् विरोधी है। जो लेखक 'मूर्खता' का आश्रय लेकर हास्य की सृष्टि करते हैं वे बहुत ही निम्न श्रेणी का हास्य उत्पन्न करना चाहते हैं।

हास्य के दो अंग हैं—व्यंग्य और विनोद। व्यग्य में

लेखक हास्य द्वारा कुछ सुझाना व समझाना चाहता है। विनोद उद्देश्य-हीन शुद्ध हास्य है। उसका उद्देश्य केवल हँसाना है। व्यंग्य सामाजिक कुरीतियों को मिटाने का बहुत ही सुन्दर साधन है; विनोद समय बिताने का मनोरंजक उपादान भी है। हिन्दी साहित्य में दोनों की कमी है और दोनों ही की आवश्यकता है।

समाज में इतने प्रकार की बेढंगी बातें हैं और होती रहती हैं कि उन पर अच्छा व्यंग्य लिखा जा सकता है। नित्यप्रति जीवन में ऐसी अनेक घटनाएँ होती रहती हैं जिन पर अच्छे 'विनोद' की सृष्टि हो सकती है। लेखकों को इसकी शिकायत रहती है कि उन्हें 'विषय' नहीं मिलते। वास्तव में वस्तु की उतनी कमी नहीं जितनी ढूँढ़ने वालों की। "गुण ना हिरानो गुणगाहक हिरानो है"—वाली कहावत इस पर ठीक चरितार्थ होती है।

शेक्सपियर ने एक स्थान पर लिखा है—'A good wit will make use of anything' यदि आपमें हास्य की परख है, यदि आपमें इस रस की अनुभूति है तो आपको 'वस्तु' वा 'विषय' की कमी न रहेगी। फिर भी लेखक को कुछ ऐसे उपाय बतलाने पड़ेंगे जिसकी सहायता से वह हास्य रस का अनुभव कर सके, और अपनी रचनाओं के लिए निमित्त सामग्री एकत्र कर सके। लेखक को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसका मस्तिष्क 'हास्य'

के उपयुक्त बने और उसमें हास्य को ढूँढ़ निकालने की शक्ति आवे।

इस हेतु उसे कुछ अभ्यास करना चाहिए। जहाँ कहीं लेखक रहेगा, उसे कुछ न कुछ दिखाई ही देगा, कोई-न-कोई बात होती ही रहेगी। ऐसे स्थल पर उसे उनके विषय में सोचते रहना चाहिए। उदाहरण के लिए—मान ले, आप रेल यात्रा कर रहे हैं। आपके सामने बेंच पर एक वृद्ध और एक स्त्री बैठी है। मान लें, आप देख रहे हैं कि स्त्री वृद्ध को प्रसन्न करने की चेष्टा करती है, उसकी हाँ में हाँ मिलाती है। मान लें, वह स्त्री उसकी लड़की है। मान लें, संसार में इस तरह की बहुत ही लड़कियाँ हैं जो अपने बूढ़े पिता को प्रसन्न रखने की चेष्टा करती हैं। मान लें, पिता अमीर है। मान ले उसकी पाँच छः पुत्रियाँ हैं। मान लें, उसके एक पुत्र है, मान लें, वह बहुत निकम्मा है। मान ले, सभी लड़कियाँ अपने पिता को इस हेतु प्रसन्न रखती हैं कि वह मरते समय उन्हें अपना धन दे जायगा। मान लें, बूढ़ा मर जाता है। उसकी सभी लड़कियाँ अपने अपने घर से दौड़ी आती हैं। सभी दिखाने के लिए उसकी अन्त्येष्टि-क्रिया के लिए खूब धन खर्च करती हैं। एक दूसरे से उसमें बाजी मार ले जाने की कोशिश करती हैं। अन्त में बूढ़े का वसीयतनामा ढूढ़ा जाता है। उसका लड़का इस ओर उदासीन है। लड़कियाँ उसे बनाती हैं;

उसे निकम्मा कहती हैं। अंत में बूढे का वसीयतनामा ढ़ूढा जाता है। वह मिलता है, पर उसमें उसके हस्ताक्षर नहीं रहते। लड़का सारे धन का अधिकारी हो जाता है।

इस प्रकार 'मान ले' वाले तरीके से बहुत सी बाते सोची जा सकती हैं। मान लें, एक आदमी को दुम निकल आई है। वह अमीर का पुत्र है। पढ़ने जाता है इस प्रकार जीवन के सारे व्यापार में उसके साथ 'मान लो' वाली 'दुम' क्या-क्या मज़ा दिखायेगी, इसे सोचकर आप अच्छे हास्यरस की रचना कर सकते हैं। हास्यरस का लेखक जहाँ जायगा वहाँ उसे कोई-न-कोई बात अपने काम की अवश्य मिल जायगी। सब बातो पर 'हास्य' नहीं लिखा जायगा, पर लेखक को ऐसी सारी बाते अपनी नोट-बुक में नोट कर लेनी चाहिए। समय पर वे काम देती हैं। एक विचार से अनेक विचार उठते हैं—उसे भी नोट करना उचित है।

हास्यरस की रचनाओं के पारायण से भी विचार मिलते हैं और अच्छे लेखकों की मजी हुई शैली का अभ्यास होता है। हास्य की सफलता केवल 'कथानक' वा 'वस्तु' पर नहीं रहनी। बहुत कुछ तो लेखन-शैली और शब्दावली तथा वाक्य विन्यास पर निर्भर रहती है। पढ़ते समय इस विषय का आनन्द न उठाकर लेखक की लेखन-शैली पर अधिक ध्यान रखना चाहिए।

हास्य का उद्रेक तभी होता है जब ठीक-ठीक शब्दों द्वारा भाव प्रगट होते हैं। यदि आप का भाषा पर अधिकार न हुआ तो आपके विचार आप ही तक रह जायँगे। हास्य लिखते समय 'शब्द-शक्ति' पर विशेष ध्यान देना चाहिए। एक शब्द सारे हास्य को नष्ट कर सकता है। हास्य के लिए एक विशेष-परिस्थिति तथा वातावरण की आवश्यकता होती है। यदि आप अपने शब्दों द्वारा उसकी सृष्टि नहीं कर सके तो हास्य का परिपाक न होगा। स्पष्टता और चुस्ती हास्य के आधार हैं। अधिक विस्तार या भाषा की दुरूहता 'हास्य' का प्रभाव नष्ट कर देती है।

हास्यरस की रचनाओं की सृष्टि करने की इच्छा करने के पूर्व उसके लिए यथेष्ट तैयारी करनी चाहिए। पहले तो अपना 'स्वभाव' ऐसा बनाना चाहिए कि उसकी बातचीत लोगों को हँसा दे। उसे गंभीर होना चाहिए पर उसके मस्तिष्क में हास्य की दुनिया होनी चाहिए। फिर उसे जीवन का अनुभव भी होना चाहिए। केवल पुस्तकों के आधार पर अच्छे हास्य की सृष्टि नहीं की जा सकती। निजी अनुभव हास्यरस के लेखक में मौलिकता लाता है। उसके पश्चात् उसे भाषा पर अधिकार करना चाहिए। अपनी निजी शैली में रचनाएँ कर सकने की क्षमता प्राप्त करनी चाहिए। हास्यरस की रचनाओं के लिए लेखक को कुछ अच्छे-अच्छे शब्द, शब्द-समूह, वाक्य और उक्तियाँ

स्मरण रखनी चाहिए। उसे गंभीर शब्दों के हँसानेवाले पर्याय अपने पास लिख रखना चाहिए। वे समय पर काम आते हैं। समाज में नित्यप्रति व्यवहार होनेवाली भाषा मे बराबर ऐसे शब्द बनते रहते हैं जिसे हास्यरस का लेखक अपनी रचना में यदि प्रयोग करे तो उसमें चमत्कार आ सकता है। उदाहरण के लिए मोटर साइकिल के लिए फट-फटिया, खड़खड़िया। इसलिए हास्यरस के लेखक को नये-नये शब्दो और वाक्यों का संग्रह करते रहना चाहिए। समाज मे अमीर-ग़रीब, बच्चे-बूढ़े सभी में हास्यरस की अनुभव शक्ति है। यदि हम हँसे नहीं तो हमारा जीवन मृत्यु-तुल्य हो जाय। किसी ने लिखा है स्वास्थ्य के लिए हँसना बहुत आवश्यक है।

"One of the best ways to retain the charms of youth is to indulge in laughter as frequently as possible Laugh and keep young"

हास्यरस की रचना करते समय स्मरण रखना चाहिए कि 'लेखन शैली' उसमें प्रधान 'तत्व' है। यदि आप लेख लिखना चाहते हैं। इस हेतु विषय दो प्रकार से काम में आते हैं। साधारण और गम्भीर। यदि हम गंभीर विषय का महत्त्व मिटा कर लिखे; साधारण को ज़रूरत से ज़्यादा महत्त्व प्रदान करे—हास्य पूरा उतरेगा। पर इस बात पर ध्यान

रखना चाहिए कि आप जिस गति से आरंभ करें वही गति अंत तक रहे। यदि महत्त्वपूर्ण विषय को साधारण समझ कर चले हैं तो समस्त रचना में उसे साधारण ही रखें। यदि साधारण को 'महत्त्वपूर्ण' बना रहे हैं तो अंत तक वही बातें रहें। कहीं आपकी तन्मयता टूटे नहीं, कहीं आप का भेद खुले नहीं। यही सफलता की कुंजी है।

प्रत्येक प्रकार के विषय और उनके प्रतिपादन शैली के अनुरूप रचना की शैली होगी। लेखक समस्त रचनाओं में एक ही शैली का प्रयोग नहीं कर सकता। जैसा विषय हो, जिस दृष्टि से उस पर प्रकाश डालना हो, उसीके अनु-रूप शैली रखनी चाहिए। यदि लेखक के 'हथकण्डे' पाठक पहले ही से भाँप लेते हैं तो उसकी रचना फिर वे न पढ़ेंगे। और लेखक तो लिखता है पाठकों के लिए ही।

विषय के लिए हास्य-लेखक को स्मरण रखना चाहिए कि पाठक बासी और बहुत साधारण 'विषय' पर हँसना नहीं चाहते। हास्यरस की रचनाओं में 'नवीनता' और 'सामयिकता' होनी चाहिए। परन्तु यदि आप सिद्धहस्त लेखक हैं और आपकी प्रवृत्ति कलात्मक है तो आप साधारण से साधारण विषय पर लोगों को हँसा सकते हैं। यहाँ 'विषय' तो केवल नाममात्र का रहता है वास्तव में रहते हैं आपके निजी विचार। इस प्रकार की रचनाओं का सुन्दर रूप हमें Sketch या शब्द-चित्र में मिलता है।

हिन्दी में यह एकदम नयी वस्तु है और इसकी बहुत ही कमी है।

शब्द-चित्र की विशेषता यही है कि उसमें 'वस्तु' नाम-मात्र की होती है और लेखक को काफी आज़ादी रहती है। शब्द-चित्र, केवल हँसी दिलानेवाले वाक्यों का समूह नहीं है। उसमें कुछ चमत्कार भी होना चाहिए, कोई ऐसी बात होनी चाहिए जिसकी साधारण रूप से पाठक को आशा न हो। नवसिखुए लेखकों को शब्द-चित्र लिखते समय पहले 'मैं' वाली पद्धति अंगीकार करनी चाहिए। जब लेखक 'स्वयं' लिखता है तो उसे अपनी रचना में अधिक सुगमता होती है। लेखक ऐसा लिखता है मानों उसके शब्द-चित्र का पात्र, स्वयं अपना अनुभव लिख रहा है। उसे काफ़ी स्वतंत्रता रहती है। अपने ऊपर घटाकर वह जो चाहे कह डाले। ऐसी दशा में प्रायः लेखक 'मूर्ख' वा 'मूढ़' का अभिनय करता है। इस प्रकार वह परोक्ष रूप मे हास्य का उद्रेक करता है, परन्तु ऐसी दशा मे भी लेखक को इसके प्रति सावधान रहना उचित है कि वह कहीं 'अति' न कर बैठे। अधिक ऊट-पटाँग बाते बकने या करने से पाठक के लिए 'हास्य' निम्न श्रेणी की 'भड़ैती' बन जाती है।

'अन्य पुरुष' वा 'मै' रूप में जो शब्द-चित्र लिखा जाता है वह प्रायः कहानी का रूप धारण करता है। हास्यरस प्रधान कहानी यदि बहुत लंबी न हो तो अच्छी होती है। पर शब्द-

चित्र में कहानी की घटनाएँ ऐसी होनी चाहिए जिसमें एक पात्र का चरित्र सामने आ जाय और वह पात्र ऐसा हो जिसके आचरण से हमारा मनोरंजन होता हो। ऐसे शब्द-चित्र भी लिखे जा सकते हैं जिसमें 'पशु' भी आते हों। हास्य के लिए 'पशु' की उपस्थिति अच्छी होती है। हिन्दी में हमारे देखने में ऐसी एक ही रचना आयी थी। वह है 'लम्बकर्ण'—यह परशुराम जी की लिखी रचना कभी 'विशाल भारत' में छपी थी। शब्द-चित्र बहुत लम्बे अच्छे नहीं होते। छोटे और अच्छे लिखे शब्द-चित्र पाठकों का अधिक मनोरंजन करते हैं।

नये लेखकों को पहले हास्यरस के शब्दचित्र और कहानियों पर हाथ बैठाना चाहिए, फिर हास्यरस के 'लेख' लिखने का प्रयास करना चाहिए। हास्य-प्रधान कहानियों में उन समस्त गुणों की अपेक्षा है जो कि एक अच्छी कहानी में होने चाहिए और उसमें 'सम्भव' की मात्रा भी यथेष्ट होनी चाहिए। यदि कहानी 'असम्भव और 'अस्वाभाविक' प्रतीत हुई तो वह असफल समझी जायगी। वह समय गया जब ऊटपटाँग कथानकवाली कहानी हमें हँसाती थी। मिस्टर हॉवर्ड (Howard) कहते हैं—

"The days when distortion was considered funny are over Modern humour is a product vastly superior to that of a

century ago in that it is founded upon reality"

हास्यरस की कहानी में बहुत सी असम्भव बातें होती हैं पर लेखक अपने पात्रो को ऐसा सजीव बनाता है कि वे अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होतीं। पात्रो के चरित्र के अनुसार ही उनका आचरण होता है। लिखते समय इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए कि उसे पढ़कर पाठक हँसेगे या नहीं। पुराने, प्रचलित चुटकलो और विनोद-व्यंजक वाक्यों से यदि आप अपनी कहानी भर देंगे तो पाठक उससे ऊब उठेंगे। उसमें कोई नवीनता उन्हे न मिलेगी। हास्यरस की कहानी में ऐसा वातावरण उत्पन्न करना होगा कि पाठक उसे पढ़कर हँसे। वह वातावरण स्वाभाविक और सच्चा हो। यदि पाठक उसे झूठ समझेगा—उसे कभी हँसी न आयेगी। कहानी लिखने के पूर्व उसे अपनी कल्पना से प्रत्यक्षीकरण कर लेना चाहिए। उसके पात्र यदि उसकी कल्पना में जीते-जागते आचरण नहीं करने लगते तो पाठक तो उन्हें पहचान भी न पावेगा।

हास्यरस की कहानी के तीन प्रधान रहस्य हैं। हास्य केवल बातचीत या मनोरंजक उक्तियों में नहीं रहता। समस्त वातावरण, घटनाओं का क्रम भी हास्य उत्पन्न करता है। कहानी का मज़ा कभी-कभी उसके अन्त मे आता है। कभी-कभी परिस्थिति ऐसी 'हास्योत्पादक' होती है कि कथा

क्रमिक विकास के साथ बराबर बढ़ती ही जाती है। कभी-कभी वर्णनशैली और लेखक की भाषा—हास्य का उद्रेक करती है। इसलिए इन समस्त बातों पर ध्यान रखकर हास्य रस की कहानी लिखनी चाहिए।

पाश्चात्य देशों में हास्यरस के लघु उपन्यास भी लिखे जाने लगे हैं। इन्हे 'उपन्यासिका' कहें तो अधिक उपयुक्त होगा। नये लेखक प्रायः आरम्भ में यही लिखते हैं। यह एक प्रकार से बड़े नाविल का खाका होता है। इसमें 'श्लेष' से अधिक काम लिया जाता है। अनुप्रास, श्लेष, विरोधाभास आदि अलंकार हास्य में अधिक काम दे सकते हैं।

हिन्दी पत्रों में कभी-कभी विनोद का स्तंभ दिखाई पड़ जाता है पर उसमें प्रायः अनुवादित मज़ाक रहते हैं—सो भी अँग्रेज़ी से। हिन्दी के लेखकों वा सम्पादकों का ध्यान इधर बहुत कम गया है। अकसर हमें छोटे-छोटे मज़ाक सूझते हैं। यदि हम उनका संग्रह करते जायँ तो वे दैनिक वा साप्ताहिक पत्रों के काम आ सकते हैं। हास्यप्रधान कविताएँ तो हमें अकसर हिन्दी पत्रों में देखने को मिलती हैं, कवि-सम्मेलनों में भी सुनाई पड़ जाती हैं। परन्तु नियमित रूप से इसके भी लिखनेवाले कम हैं। कभी-कभी कुछ लोग पैरोडी (Parody) लिखते हैं, परन्तु ऐसा करते समय उन्हे अपनी रचना में नवीनता लाने का प्रयत्न करना

चाहिए। अभी तक तो इनमें 'फैशन', 'परदा', 'पढ़ाई' आदि ही देखने में आती हैं। पैरोडी में सामयिकता के साथ-साथ सुरुचि भी होनी चाहिए।

हास्य क्या है? कैसे लिखना चाहिए? हँसाना आसान काम नहीं, शुद्ध हास्य की परख भी आसान नहीं। परन्तु हँसते सब है। और हँसी की वस्तु पर हम बिना कुछ सोचे ही हँस पड़ते हैं। ऐसा क्यों होता है? उसी को जानना हँसाने की तरकीब को जानना है।

हम तभी हँसते हैं जब कोई हँसने की बात होती है पागलो और मूर्खों की बात हम नहीं करते। हमारे सामने जब दो विरोधी, बेतुकी बाते आती हैं तब हमको हँसी आती है। जब हम किसी बने-ठने सफेदपोश आदमी को अपनी हवा से उड़ी हुई टोपी के पीछे कीचड़ में लदफद दौड़ते देखते हैं तब हम अपनी हँसी नहीं रोक सकते। ऐसा केवल इस लिए होता है कि हम दो विरोधी बाते एक साथ देखते हैं। कहाँ वह नज़ाकत, कहाँ वह बदहवास दौड़ना!

बेतुकापन, असाधारणता वा अलौकिकता ही हमारे मन में हँसी का उद्रेक करती है। यदि हम दो पैरों में दो तरह के जूते पहने, तो लोग हँसे बिना न रहेगे। परन्तु इस प्रकार की बेतुकी बातो का आधार लेकर हास्यरस की रचना करना असाहित्यिक समझा जायगा, क्योंकि यदि ऐसा जान-बूझकर कोई करता है तो हम उसे असाधारण न समझकर

उसकी आदत समझ लेते हैं और फिर वह 'आकस्मिक' नहीं रहता। जिसे हम बराबर देखते हैं उस पर हमें हँसी नहीं आती।

विरोधी बातों का सम्मिलन, या बेतुकापन हँसी का उद्रेक करता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार हम 'पैरोडी' या 'विरूप-काव्य' लिखते हैं। उसमें होता क्या है। एक गम्भीर कविता को लेकर हम उसकी शब्दावली को ऐसा पलट देते हैं कि उसका भाव बहुत साधारण हो जाता है।

हास्य का मार्ग तलवार की धार की तरह कठिन है। ज़रा सा इधर-का-उधर हुआ कि 'हास्य' का लोप हो जाता है। हम वहीं तक हँसते हैं जहाँ तक हमारी अनुभूति-शक्ति को भारी आघात नहीं पहुँचता। यदि एक आदमी फिसल कर एकाएक गिर पड़ता है तो हमें हँसी आ जाती है। परन्तु यदि उसका परिणाम भयानक हो जाता है—(वह घायल हो जाय या मर जाय) तो हमें उस पर दुख होने लगता है और हँसी तो दूर रही हमें करुणा या पीड़ा का अनुभव होने लगता है। अब यह स्पष्ट है कि 'हँसी' का उद्रेक तभी होगा जब उसका 'परिणाम' बुरा न हो—उस से कोई भारी हानि न हो। परन्तु उसका यह अर्थ नहीं कि जहाँ कहीं परिणाम बुरा हुआ वहाँ हास्य की उत्पत्ति नहीं की जा सकती। वरन् बचाना इसे होता है कि जिस व्यक्ति पर वह हानि या बुरा परिणाम बीते उससे हमें कोई सहानु-

भूति न हो। हमारा बैरी, यदि धोके से साँप के काटने से मरता है तो हम प्रसन्न होते हैं। यदि कोई चोर दीवार फाँदते समय कुएँ में गिर पड़ता है तो हमें हँसी आ सकती है। पर यदि हमारा मित्र फिसल कर पैर तोड़ लेता है तो हमे दुख होता है। इसका कारण बतलाते हुए मिस्टर विलि-यम-सन् एक स्थान पर लिखते हैं—

The explanation is that an element of personal danger, an element of possible pain have entered in and stemmed the springs of laughter in us अर्थात् हानि की आ-शंका और कष्ट की भावी अनुभूति हमारी हँसी का मार्ग रोक देती है।

यदि कभी कहानी वा हास्यरस की रचना में कष्ट वा दुख का वर्णन करते हुए 'हास्यरस' को रसाभास से बचाना हो तो लेखक को इसके प्रति सावधान रहना चाहिए कि उस पात्र के प्रति हमारी सहानुभूति न जागृत होने पावे, जिस पर वह दुर्घटना बीतने वाली हो। केवल पात्र का 'मनुष्य' होना मात्र उसे हमारी सहानुभूति का अधिकारी नही बनाता।

हास्य का उद्रेक एक दूसरे प्रकार यो होता है। जब हम मामूली बातों पर बहुत महत्त्व देते हैं तो हमें हँसी आती है। आवश्यकता से अधिक किसी वस्तु का सविस्तार वर्णन

उसे उपाहास्य बना देता है। छोटी-सी साधारण वस्तु का महत्त्वपूर्ण सविस्तार वर्णन या महत्त्वपूर्ण वस्तु का ऐसा वर्णन मानों वह बहुत साधारण-सी बात हो—दोनों हँसाते हैं। ज़रूरत से ज्यादा किसी मामूली बात पर जोर देना—हमें हँसाये बिना नहीं छोड़ता।

कभी-कभी लेखक कोई महत्त्वपूर्ण बात न कहकर केवल चटपटी भाषा का प्रयोग कर, पाठकों का मनोरंजन कर देता है। किसी बात को वह बड़ी गम्भीरतापूर्वक उठाता है मानों किसी भारी सिद्धान्त की व्याख्या करने जा रहा हो, पर वह कुछ न कहकर केवल शब्दों की पूर्ति कर देता है। उदाहरणार्थ—

एक सज्जन शराब पीते थे। लोगों ने बहुत समझाया पर वे किसी की न सुनते थे। एक दिन मित्र-मण्डली बैठी थी। किसी ने इस पर ज़ोर दिया कि आज आप इसकी प्रतिज्ञा करें कि अब शराब न पीयेंगे। उक्त महोदय ने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। आप प्रतिज्ञा करने खड़े हुए। बोले—

"मित्रो! मैं आपकी बात नहीं टालता। मैं मानता हूँ शराब पीना बुरा है। मैं चाहता हूँ कि न पीऊँ। और न पीऊँगा। यों भी मैं केवल दो ही अवसर पर पीता था। आगे भी केवल दो अवसरों को छोड़कर कभी न पीने की प्रतिज्ञा करता हूँ। आशा है कि आप मुझे इतनी रियायत देने को तैयार होंगे।"

किसी मित्र ने पूछा, "वे कौन-कौन से अवसर हैं ?"

उक्त सज्जन कहने लगे, "मित्रो ! पहले मैं उस समय शराब की ज़रूरत महसूस करता हूँ जब पानी बरसता हो और दूसरे—"

मित्रगण उत्कंठित हो उठे। वे कहने लगे, "आप लोग मुझे आज्ञा दें कि जब कभी पानी बरसे मैं पी सकूँ—"

मित्रों ने कहा, "ठीक है—कोई हर्ज नहीं। दूसरा मौक़ा बतलाइये।"

उत्तर में सज्जन ने कहा, "मैं पहले उस समय शराब पीने की आज्ञा माँगता हूँ जब पानी बरसे और दूसरे उस समय जब पानी न बरसे। बस इतनी सी बात है।" सभी मित्र उस पर हँस पड़े।

कभी-कभी मज़ेदार उक्तियों से भी लेखक हँसी उत्पन्न करता है। उदाहरणार्थ—

मुंशी जी को पुत्र उत्पन्न होने की उतनी खुशी न थी जितनी पुत्री न होने की।

—'मुनमुन' से

लेखक अपने शब्दों, वाक्यों और प्रकाशन-शैली से भी रचना में हास्य का पुट ला सकता है।

लेख बहुत लम्बा हो गया पर विषय भी साधारण न था। अतः अब अधिक विस्तार न देकर उसे समाप्त करना चाहिए। परन्तु उसके पूर्व कुछ बातें ऐसी हैं जिसे लेखकों

को अवश्य जान लेना चाहिए और उन्हें अपनी नोटबुक में टाँक भी लेना चाहिए। जैसे—

(१) हास्य में मौलिकता की अधिक खोज करनी चाहिए।

(२) केवल उत्तम रचना से प्रेम रखो।

(३) रचना में गुण अधिक हो, प्रभाव अधिक हो, विस्तार कम।

(४) प्रसिद्ध व्यक्तियों की हँसी न उड़ाओ।

(५) अपने मज़ाक को ईर्षा और द्वेष से दूर रखो।

(६) भद्दे मज़ाक कभी न लिखो, यह असभ्यता का द्योतक है।

(७) जान-बूझकर गढ़े हुए मज़ाक मत रखो। ऐसा लिखो कि वे स्वाभाविक उक्ति जान पड़ें।

११

बच्चे क्या पढ़ना चाहते हैं ?

बच्चों के साहित्य पर हमारे यहाँ अभी बिल्कुल ध्यान ही नहीं गया है । सच पूछिए तो हिन्दीवालों ने अभी साहित्य को जातीय उत्थान का उपकरण ही नहीं समझा । अभी तक हमारे साहित्यिक, साहित्य को केवल मनोविनोद और निरुद्देश्य वस्तु ही मानते हैं । परन्तु स्वतंत्र देशों में जहाँ कुछ अंश, ऐसे साहित्य का भी प्रकाशित होता है जिसमें उपयोगिता का प्रश्न नही रहता, वहाँ अधिकांश साहित्य ऐसा उत्पन्न किया जाता है जो राष्ट्रीय उत्थान का उपकरण बने । स्वतंत्र जातियाँ पहले अपने को स्वतंत्र रखना चाहती हैं पश्चात् कुछ और। इस हेतु उन्हें एक निश्चित्, स्पष्ट कार्य्य-क्रम के अनुसार काम करना पड़ता है ।

किस के लिए किस प्रकार की वस्तु पाठ्य होगी इसका पता लगाकर उसका सृजन होना उचित है । हमारे यहाँ का शिक्षा-विभाग अभी इसकी परवा ही नहीं करता कि बच्चे क्या पढना चाहते हैं । परन्तु अन्य देशों में 'बच्चों की रुचि' की उपेक्षा नहीं होती । विलायत के एक स्थान की

शिक्षा-समिति ने बच्चों से प्रश्न करके यह पता लगाना चाहा था कि वे किस प्रकार की वस्तुएँ पढ़ना चाहते हैं। उसका परिणाम निम्नलिखित सूचना से मिलता है।

ग्यारह सहस्र लड़कों के उत्तरों का संक्षेप इस प्रकार है—

आठ वर्ष के आयु के बच्चे पशुओं की कहानियाँ पसंद करते हैं।

नौ वर्ष के स्काउटिंग की कथाएँ।

दस वर्ष के पशुओं का चरित्र तथा कहानी।

ग्यारह वर्ष के इतिहास तथा भूगोल।

बारह वर्ष के स्काउटिंग की कहानियाँ।

तेरह-चौदह वर्ष के अपने हाथों कुछ बनाने का हाल तथा खेल-कूद।

यह तो हुई लड़कों की बात। लड़कियों का उत्तर भिन्न-भिन्न था। शिक्षा-समिति अपने रिपोर्ट में लिखती है—"आठ-नौ वर्ष की लड़कियाँ पौराणिक कथाएँ पसंद करती हैं। दस से तेरह वर्ष की लड़कियाँ कहानियाँ पसंद करती हैं। चौदह वर्ष की लड़कियाँ उत्साह-वर्धक कथाएँ, वीरोपाख्यान आदि पसंद करती हैं।"

ऊपर के आँकड़ों से यह परिणाम निकलता है कि बच्चों के लिए इतिहास, भूगोल, पशु-संसार और खेल-कूद प्रिय विषय हैं।

उक्त कमेटी की रिपोर्ट से यह भी स्पष्ट होता है कि आठ

हैं। साधारण पाठक पढ़ा-लिखा साहित्य और समाज की रुचि का अनुभव रखनेवाला तथा स्वयं अपनी आदत रखनेवाला होता है। बाल-पाठक अपने क्षेत्र में 'कोरे' आते हैं। उन्हें केवल अक्षर-ज्ञान होता है। रुचि, रिवाज, साहित्यिक ज्ञान आदि नहीं होता। उनकी पसंदगी का आधार होता है 'सूक्ष्म—अज्ञात—प्राकृतिक—अनुभूति'। वे स्वयं नहीं जानते क्या पसंद करेंगे। स्वभाव से प्रेरित होकर वे जो एक बार पसंद कर लेते हैं उसे कुछ काल तक पसंद करते रहते हैं—उस समय तक जबतक उनके मस्तिष्क और शरीर का विकास, उनकी रुचि में परिवर्तन न उपस्थित कर दे। अतः, बाल-पाठक पढ़ने के पूर्व किसी वस्तु की प्रतीक्षा नहीं करता। सारे विषय उसके लिए नवीन हैं। सभी के प्रति उसे कुतूहल रहता है पर वह समझ किसे सकेगा, इसका ध्यान लेखक को रखना होगा। अवस्था के अनुसार बाल-पाठकों में रुचि-परिवर्तन होता है।

अब यह स्पष्ट है कि बालकों की अपनी कोई पक्की पसंद नहीं। आप जो उन्हें पढ़ने को देंगे उसे वे धीरे-धीरे पसंद करने लगेंगे। अब इसका उत्तरदायित्व आप पर है जिस प्रकार चाहें उनके मस्तिष्क का विकास करें।

बच्चों में आलोचनात्मक वृत्ति बड़ी प्रबल होती है। वे पसंद और नापसंद करना जानते हैं। क्यों—चाहे इसके लिए उनके पास दलील न हो। आलोचनात्मक ज्ञान के

विकास के पूर्व ही बच्चो में 'रुचि' का विकास हो जाता है। परन्तु इसके साथ-साथ वे बहुत दिनो में अपने अनुभव से अपनी रुचि की वस्तु ढूँढ़ सकते हैं। कारण यह है कि उनका अनुभव कम रहता है और वे नहीं जानते कि अच्छे-बुरे की पहचान किस आधार पर करें। यही कारण है कि बच्चों की लाभ-हानि की देख-रेख सयानो पर रहती है। उन्हें पाठ्य पुस्तकें देते समय लेखक को उनकी लाभ-हानि का ध्यान रखना चाहिए।

बच्चो के लिए लिखते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि अपनी रचना मे कोई चटपटी बात अवश्य हो, जो बच्चो को प्रभावित करे—कोई मज़ाक, कोई कार्य्य, कोई वर्णन जो बच्चो को पसंद आये। यदि आपकी रचनाएँ आपको मज़ा दे तो समझिए बच्चे उसे पसंद करेंगे।

कभी-कभी हमारे सामने भाषा और विषय का प्रश्न उठ खड़ा होता है। हम अपने में संकल्प-विकल्प करने लगते है कि इस विषय को, इस विचार को लड़के न समझ पावेंगे, यह हास्य उनके लिए कठोर पड़ेगा। परन्तु यदि हमारी रचना मे लिखने का तरीक़ा चटपटा है, बीच-बीच में बच्चों का ध्यान लगता जाता है तो वे सब समझ लेगें। बच्चों की कल्पना-शक्ति तेज़ होती है। वे प्रत्येक वस्तु को अपनी कल्पना से अपने मनोरंजन की समाग्री बना लेते हैं,

और अपरिचित शब्दों और विचारों का परिचय-मात्र बच्चों का मनोरजन करता है। जिसे वे समझते नहीं—उसे केवल सुनकर वे रटते रहते हैं। उनका मनोरंजन तो हो ही जाता है।

१२

लोमहर्षक आख्यान

हिन्दी में लोमहर्षक आख्यान कहने भर को भी नहीं मिलेगा। इस गद्ययुग के आरंभ में ऐयारी वा जासूसी श्रेणी की निम्नकोटि की कुछ रचनाओं का अच्छा प्रचार हुआ, परन्तु न उनकी भाषा साहित्यिक थी और न वे परिष्कृत रुचिवालों के लिए लिखी ही गयी थीं। इसका परिणाम यह हुआ कि आजकल इस श्रेणी के आख्यानों का नाम लेते ही लोग नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। यह सत्य है कि साहित्यिक आख्यान निश्चय लोमहर्षक आख्यानो से अधिक श्रेयस्कर हैं। परन्तु कला की दृष्टि से दोनो में कोई अंतर नहीं। साहित्यिक कथा-साहित्य जीवन की व्याख्या करने मे अधिक समर्थ है—मानव जाति का उनसे कल्याण हो सकता है। परन्तु जिस देश में पढ़े-लिखे लोगों की संख्या अधिक है वहाँ सभी केवल 'साहित्यिक' ग्रंथ नहीं पढ़ सकते। उन्हें अवकाश का समय बिताने का बहाना चाहिए। इसी प्रकार जिस देश में सभी पढ़े-लिखे नहीं वहाँ साहित्यमर्मज्ञ कितने होंगे। परन्तु सरस, मनोरंजक साहित्य

के प्रलोभन से बहुत लोग पढ़ना-लिखना सीख लेते हैं। लोगों का यह कहना, कि 'चन्द्रकान्ता' ने कितनों को हिन्दी सिखाया कुछ सार रखता है।

हमारे देश में सामयिक पत्रों के खरीदारों की संख्या कितनी नगण्य है। इसका प्रधान कारण एक यह भी है कि हमारे 'पत्र' सभी साहित्यिक बनने की सनक में रहते हैं। यद्यपि हमारे देश में पढ़े-लिखों की संख्या बहुत कम है, परन्तु यदि हमारे पत्रकार उन थोड़े पढ़े-लिखे लोगों की योग्यता को ध्यान में रखकर पत्र निकाले तथा पठन-सामग्री प्रस्तुत करें तो निश्चय उसके पाठकों की संख्या वर्तमान संख्या से दसगुनी हो सकती है। विदेश में जहाँ प्रकाशकों का उद्देश्य पाठ्य-सामग्री प्रस्तुत कर पाठकों का उचित मनोरंजन करना होता है वहाँ वे लोमहर्षक आख्यानों को 'असाहित्यिक' कहकर दूर नहीं कर देते। और क्या आप समझते हैं हमारे देश के—कम-से-कम हिन्दी के—सभी पत्रों में समस्त 'मैटर' 'साहित्यिक' ही रहता है। हमारी साहित्य की धारणा कितनी असपष्ट है। ठीक उतनी ही जितनी हम में धर्म की भावना है। हम धर्म की आड़ में सब कुछ करते हैं। फलतः हम अपने को भुलावे में रखे रहते हैं कि हमारे सारे कार्य्य पुण्य-कार्य्य हैं। यदि हम उपादेयता की कसौटी पर कसकर प्रत्येक कार्य्य करें तो वह अधिक कल्याणकर होगा। न सभी पाठक साहित्यिक हो सकते हैं और न सब पत्रकार कलाकार बन

कर जीवित रह सकते हैं। पाठकों को ध्यान में रखकर उन्हें पाठ्य-सामग्री देनी होगी।

हमें विषयान्तर में इसलिए जाना पड़ा क्योंकि यह आवश्यक था कि हम इस बात को स्पष्ट कर दें कि उच्च-कोटि की कलात्मक रचनाओं का 'फेर' बुरा है। सभी यदि 'सिद्ध' नहीं हो सकते तो व्यर्थ 'भभूत' रमाकर दुनिया को ठगने से लाभ! अपने योग्य अपना व्यवसाय चुनना अच्छा और ईमानदारी का काम है। इसमें हँसाई का भय नहीं। इसी समाज में कोई बारीक काम करता है कोई मोटा। सभी अपने योग्य काम का सुन्दर रूप से प्रतिपादन करते हैं। यह कहना व्यर्थ है, स्वर्णकार का काम कुम्हार के काम से अच्छा है। दोनों की अपनी कला है और दोनो को अपनी-अपनी कला में दक्ष होना पड़ेगा। समाज में दोनों की आवश्यकता है, उपादेयता है। अब हम मुख्य विषय पर आते हैं।

लोमहर्षक आख्यान किसे कहते हैं? लोमहर्षक आख्यान वे हैं, जिनमें 'रोमांचकारी तत्व' की प्रधानता हो। जिसे पढ़-कर कुतूहल बढ़े, आश्चर्य बढ़े, हर्ष, दुःख अपनी चरम सीमा पर पहुँचे। इस प्रकार के आख्यानों में दो प्रधान श्रेणियाँ हैं। जासूसी कथानक और रहस्यात्मक कथानक। जासूसी कथानकों में 'अपराध' के रूप में समस्या सामने आती है। रहस्यात्मक कथानकों में कथा-वस्तु का संचालन

इस प्रकार होता है कि उसकी गति, मार्ग पाठकों को भीषणता का अनुभव कराता है। वस्तुतः दोनों में 'रहस्य' तत्व मुख्य होता है। दोनों में पाठको की 'जिज्ञासा' या 'कुतूहल' को 'चरम' पर पहुँचाए रखना होता है। जो रचना जितनी ही हृदय दहलानेवाली होगी वह उतनी ही सफल होगी।

इस प्रकार का लोमहर्षक आख्यान लिखना आसान नहीं। इस हेतु उसकी कला का अध्ययन करना पड़ेगा। सेन्ट जान इरविन ने एक बार कहा था, "साधारण कल्पना-शील पढ़ा-लिखा व्यक्ति यदि लिखना जानता हो तो वह साधारण उपन्यास लिख सकता है।" इसी प्रकार एक अन्य उपन्यासकार का कहना था कि साधारण लेखक भी यदि मेहनत करे और नोटबुक रखे तो अपने अनुभव की ही सहायता से वह उपन्यास लिख डाल सकता है। परन्तु यह कथन 'उपन्यास' के विषय में सत्य हो सकता है 'लोमहर्षक' श्रेणी के आख्यानकों के विषय में नहीं। प्रसिद्ध जासूसी उपन्यास-लेखक एडगर वालेस ने अपने शिष्य मर्शलेण्ड को शिक्षा दी थी, "लिखना बन्द करो—पहले अपने व्यवसाय को सीख लो। तीस वर्ष की आयु को प्राप्त हुए बिना कुछ न लिखना। फिर तुम देखोगे कि लोमहर्षक आख्यान कितना आसान है और इससे कितना धन आता है।" कहने का साराश यह था कि पहले अपने व्यवसाय की शिक्षा लो फिर कार्य्य आरम्भ करो।

जासूसी आख्यानकों के लेखकों को सब से प्रथम पुलिस के तहकीकात और 'अपराध-विज्ञान' का ज्ञान होना चाहिए। हमारे देश में तो इस हेतु बहुत ही कम प्रकाशित सामग्री है। हाँ, थोड़ा-बहुत काम समाचार-पत्रों में प्रकाशित होने वाले फौजदारी के मुक़दमो से चलता है। लेखको को इसका अध्ययन करते रहना चाहिए। केवल अँग्रेज़ी के जासूसी उपन्यास तथा कहानियो को पढ़ कर हिन्दी साहित्य तथा हिन्दुस्तानी पाठको की भूख सन्तुष्ट नहीं की जा सकती। भारतीय पाठकों के लिए भारतीय आख्यान बनाने पड़ेंगे। परन्तु लेखन-शैली का अध्ययन करने के निमित्त अच्छे-अच्छे लोमहर्षक आख्यानों को पढ़ना बुरा नहीं। यहाँ उद्देश्य, कलाकार की कुशलता और हस्तलाघव से परिचय प्राप्त करना रहता है। इस दृष्टि से अध्ययन करते समय हमें आख्यान की रोचकता पर अधिक ध्यान न देकर उसके संपादन-कुशलता पर ध्यान देना चाहिए। लेखक मनोरंजन के लिए नहीं पढ़ता। वह लिखना सीखने के लिए पढ़ता है।

प्रत्येक आख्यान में 'कथा-वस्तु' होती है। घटना की क्रमबद्ध शृङ्खला होती है। परन्तु उन्हीं घटनाओं के कार्य्य-कारण रूप के क्रम को हम कथा-वस्तु कहते हैं। अमुक का देहान्त हो गया। उसकी पत्नी का देहान्त हो गया। दो घटनाएँ हैं, जो काल-क्रमेण एक के बाद आती हैं। दोनो केवल 'कथा' होगी। परन्तु अमुक के मरने के पश्चात् उसके

विरह में उसकी पत्नी का मरना 'कथा-वस्तु' बन जाता है। 'कथा-वस्तु' में घटनाओं का वर्णन रहता है पर 'कार्य्य-कारण' का सम्बन्ध उनमें प्रधान है।

रहस्यात्मक आख्यानों की उत्पत्ति में तीन विधान प्रयुक्त होते हैं। आरम्भ में साधारण घटनाओं का काल-क्रम से वर्णन, फिर कार्य्य-कारण का सम्बन्ध-सूत्र स्थापित करना—अन्त में समस्त कथा के तत्वों को काल-क्रम, कार्य्य-कारण की दृष्टि से ऐसा सजाना कि समस्त एकत्र होकर चमत्कार-पूर्ण रहस्यात्मक या जासूसी आख्यान बन जाय। इन्हीं तीन विधानों के समाहार को हम 'प्लाट' या कथा-वस्तु कहते हैं। लेखक को चाहिए कि वह किसी एक अपराध, अपराधी और एक जासूस की कल्पना करे जो सारा रहस्य खोले। साधारण आख्यानों में होता क्या है। प्रथम किसी अपराध के होने के सारे कारण बतलाये जाते हैं, परिस्थिति का वर्णन होता है, फिर उस अपराधपूर्ण घटना का सविस्तार वर्णन होता है—अन्त मे अभियुक्त का पता लगा कर वह रहस्य खोला जाता है। परन्तु यह क्रम 'रहस्यात्मक आख्यान' का नहीं है। उसका क्रम कुछ और होगा। जैसे—

राम मारा गया—किसी ने हत्या की—किसी को पता नहीं किसने यह काम किया—श्याम इसका पता लगाता है कि राम की हत्या कृष्ण ने की, क्योंकि वह उसका धन लेना चाहता था। यह है रहस्यात्मक आख्यानों का क्रम

इन्हीं तत्वों को बढ़ाकर, विस्तार देकर, नमक-मिर्च मिला-कर आप पाँच सौ पृष्ठ का उपन्यास बना सकते हैं।

'प्लाट' कहाँ मिले—यह वह साधारण है जो सब लेखको को परेशान करता रहता है। अनुभवी लेखकों का कथन है कि प्लाट का 'विचार विन्दु'—हत्या करने के नवीन उपकरण वा विधि से मिलता है। हत्या जितने ही रहस्य-आत्मक ढग से होगी, उतना ही 'सनसनीदार' आख्यान होगा। फिर वह रहस्योद्घाटन में उनता ही रोचक और दिल दहलानेवाला होगा। प्रसिद्ध लेखक कानन डाइल ने एक बार कहा था—"'सर्व प्रथम आवश्यक है 'विचार-विन्दु' की प्राप्ति। कोई नया तरीका सूझते ही उसे जितना हो सके छिपाने का प्रयत्न करो, और ऐसा प्रयत्न करो कि रहस्योद्घाटन में लोगो को भ्रम हो।"

इस प्रकार के 'विचार-विन्दु' हर जगह मिल सकते हैं—'प्रेस कटिंग', पुस्तक, साधारण बातचीत। कभी-कभी साधा-रण कथन से भी 'विचार-विन्दु' मिल जाते हैं। लेखक यदि 'चैतन्य' है, अपने व्यवसाय में कुशल और सजग है तो उसे विचारो की कमी नहीं।

विचार-विन्दु प्राप्त होते ही उसे बढ़ाने की कोशिश होनी चाहिए। मिस्टर सिड जी० हेजेज़ (Sid G Hedges) कहते हैं—"पहले मै विचार ढूँढ़ निकालता हूँ फिर हफ़्तों उस पर सोचता रहता हूँ। मेरे आख्यान के पात्र

साकार होने लगते हैं। मुझे हर तरह कि दिक्कत रहती है। न मैं प्रतिभावान् हूँ, न मौलिक, परन्तु मैं परिश्रम से सब कुछ कर लेता हूँ। मुझे उनसे ईर्ष्या होती है जिनके मस्तिष्क में विचार उबलते रहते हैं।

"फिर मैं अपनी नोटबुक में आख्यान के अध्याय बना कर नोट करता हूँ और उनका 'विषय' निर्धारित करता हूँ। प्रथम दस अध्याय, फिर बीस अध्याय, अन्त में मैं छत्तीस अध्याय में सम्पूर्ण आख्यान लिख डालता हूँ।

लेसली डेस्पार्ड (Leslie Despard) अपना तरीका बतलाते हैं। आपका कथन है कि आरम्भ आसान होता है। पहले मैं किसी ऐसे व्यक्ति की कल्पना करता हूँ जिसे मारना है, फिर मैं सोचता हूँ उसकी हत्या कैसे कराई जाय। फिर उसके रहस्योद्‌घाटन का उपाय सोचता हूँ। जितना ही विचित्र और आश्चर्यजनक वा रहस्यात्मक वह 'हत्या' होगी उतना ही रहस्यात्मक और सनसनीदार उसका पता लगाना होगा। अन्त मे मैं समझता हूँ कि आख्यान का सम्पूर्ण सोचना ही समय लेता है—लिखना नही।"

रहस्यात्मक आख्यान में 'प्रेम' रखना यद्यपि आवश्यक नहीं, पर लोग रखते हैं। बेसिल हॉगॅथ का कहना है कि लोमहर्षक आख्यानों मे 'प्रेम' आवश्यक नहीं—फलतः इसे बरबस आख्यान में घुसाना पड़ता है। वान डाइन (Van Dine) का उपदेश है कि नये लेखको को आरम्भ मे इस

से सरोकार न रखना चाहिए। परन्तु एच० जी० वेल्स की राय की है कि यदि आख्यान मे लेखक कहीं शीघ्र ही किसी 'स्त्री' पात्र का प्रवेश नहीं कराता तो उसे पाठक पढ़ना नहीं पसन्द करते। इसलिए उसे विवश होकर करना ही पड़ता है। कुछ भी हो एक बात स्मरण रखनी चाहिए—जासूसी उपन्यासों मे 'प्रेम' 'रोमान्स' के पद को नहीं पहुॅचता अतः उस 'प्रेम' का विकास नहीं होता। बस रोचकता की दृष्टि से आख्यान में कहीं एक 'पात्री' आ जानी चाहिए। उदाहरण के लिए अपराधी की 'भार्या' अथवा वह स्त्री जिसके कारण हत्या हुई। छोटी-छोटी कहानियों में तो हम आसानी से 'प्रेम' को दूर रख सकते हैं। वहाँ लोमहर्षक वर्णन वा रहस्योद्घाटन पाठकों को सन्तुष्ट करने के लिए काफी होता है। पर ऐसे उपन्यासो में ज़रा चटपटापन के लिए पात्रो में 'स्त्री' पात्र भी रख देना ठीक होता है— केवल पाठको के सन्तोष के लिए—कला की दृष्टि से नहीं।

यदि लोमहर्षक आख्यान लेकर उपन्यास लिखना हो तो कैसे क्या करे। पाश्चात्य देशों मे लेखकों का व्यवसाय 'प्रतिभा' के भरोसे नहीं चलता। उन्हें पुरस्कार-हीन कोरी प्रशंसा से अपना पेट भरना नहीं आता। उन्हें परिश्रम के बदले ठोस ऐहिक सुख चाहिए। वे इसी हेतु परिश्रम करते हैं कि उन्हें व्यवसाय से पैसे मिलें। ऐसे लेखकों के लिए अनुभवी लेखक एडगर एलेन पो लिखते हैं—"रचना की

किसी बात के लिए 'संयोग' और 'सूझ' पर भरोसा न करो। समस्त प्लाट धीरे-धीरे आगे बढ़ना चाहिए—कार्य्य-कारण का सम्बन्ध गणित की भाँति सच्चा होना चाहिए। कहीं कोई अंतर न हो।"

इसी हेतु अनुभवी लेखकों का कथन है कि उपन्यास लिखने के पूर्व संपूर्ण ढाँचा बना लेना चाहिए और उसमें आवश्यक बातें—'पात्र' और 'परिस्थिति' भली भाँति निश्चित होनी चाहिए। जो लोग ऐसा नहीं करते उनकी क्या दशा होती है। इस पर (Frank Swinnerton) फ्रेन्क स्विनरटन का वर्णन सुनिए। आप लिखते हैं— "उपन्यास आरंभ हो गया। दस-बीस-पचास पृष्ठ तो सपाटे से लिखा गया मानों सिर्फ लिखने भर की कसर थी। धीरे-धीरे जोश ठंढा पड़ने लगा। लेखक के जोश और तरंग का दिवाला होने लगा—वह किसी तरह आगे चलने लगा। पृष्ठ पूर्ति होनेलगी। फिर उसकी भी गति रुकने लगी। अंत में उपन्यास अधूरा ही रहेगा—लिखने की हिम्मत ही न हुई।"

इस प्रकार के आख्यानो मे परिश्रम की अधिक आवश्यकता है। इस हेतु अंतःप्रेरणा वा तरंग की प्रतीक्षा न करनी चाहिए। निरंतर परिश्रम से काम पूरा होगा। लिखने के विषय में अनेक मत हैं परन्तु सभी अनुभवी लेखकों का कहना है कि प्रतिदिन कुछ न कुछ नियमपूर्वक लिखना चाहिए। प्रसिद्ध उपन्यास चन्द्रकान्ता के लेखक श्री देवकी

नन्दन खत्री के विषय में कहा जाता है कि वे बिला नागा प्रतिदिन कई घण्टे उपन्यास लिखवाया करते थे।

लोमहर्षक आख्यानों की रचना-प्रणाली पर विषद रूप से लिखने का यहाँ अवसर नहीं। इस समय केवल दो चार बातो की ओर ध्यान दिलाते हैं। इस प्रकार के आख्यानों मे 'कुतूहल' प्रधान तत्व है! समस्त रचना मे पाठको के कुतूहल को उत्तेजित रखना उचित है। कहानी की कथन-प्रणाली पर भी ध्यान रखना होगा—कौन कहे ? कहने की दो रीतियाँ हैं। एक तो वह जिसमें लेखक उत्तम 'पुरुष' बनकर अपना अनुभव लिखता है और वह 'मै' वा 'हम' के रूप मे पाठको के सामने आता है। दूसरा वह जिसमें लेखक केवल 'अन्य पुरुष' की भाँति वर्णन करता है। दोनो शैली में गुण-दोष हैं। पहली प्रणाली अधिक विश्वास उत्पन्न करनेवाली होती है, परन्तु दूसरी प्रणाली में स्वाधीनता अधिक रहती हैं। 'मै' वही बतलायेगा जो उसका निजी अनुभव हो। परन्तु 'अन्य पुरुष' बनकर लेखक जो चाहे लिख सकता है। अतः अधिकतर यही अच्छा समझा जाता है कि जासूसी आख्यान अन्य पुरुष के रूप में लेखक लिखे। कथोपकथन बहुत छोटे-छोटे और मतलब के होने चाहिए। उनमें यथार्थता का अधिक रंग होना चाहिए—यह नहीं कि कहने-वाला बस ग्रामोफोन की तरह कहता ही जाता है। यदि 'कथन' लंबा हो तो बीच-बीच में ऐसा वर्णन हो, जिसमें

पास के वातावरण से लेता है। कभी-कभी उसे इस बात का संकोच होता है कि कहीं उसकी रची कहानियों में अपनी झलक पाकर उनके मित्र नाराज न हो जायँ। इसी भय से वह कितने सुन्दर प्लाट और पात्र की सृष्टि से वंचित रह जाता है। इसमें साहित्य की हानि है। ऐसी दशा में उसे 'उपनाम' के आवरण में छिपकर लिखना चाहिए। कभी-कभी नवीन लेखकों का भी उपनाम रखकर लिखना अच्छा होता है। साहित्य में प्रवेश करते ही किसी को सफलता प्राप्त होने की पूर्ण आशा नहीं रहती। अतः नवीन लेखक यदि उपनाम रखकर आरम्भ करता है तो लोग उसकी रचना पढ़कर उसके गुण दोष के अनुसार उसका आदर वा निराकरण करते हैं। यदि वह नाम दे देता है तो कभी-कभी उसके अपरिचित नाम को देखकर ही लोग उसकी रचना छोड़ देते हैं। ऐसी दशा में 'उपनाम' उसे उपेक्षा से बचाता है। अँग्रेज़ी के कई प्रसिद्ध लेखकों ने पहले-पहल इसी भय से उपनाम रखकर लिखना आरम्भ किया था। धीरे-धीरे उनका नाम प्रसिद्ध हो गया। हमारे प्रसिद्ध उपन्यास-लेखक श्रीप्रेमचन्द जी पहले उर्दू में 'नवाब राय' के नाम से लिखते थे। हिन्दी में भी वे 'प्रेमचंद' के नाम से साहित्य-क्षेत्र में आये। धीरे-धीरे प्रेमचंद उपनाम ही उनका नाम हो गया।

जो लेखक व्यवसायी नहीं हैं और जो केवल विनोदार्थ

वा स्वांतः सुखाय लिखना चाहते हैं, उनके लिए भी 'उप-नाम' रखना अच्छा होता है। 'उपनाम' वे इस हेतु रखते हैं कि उन्हे अपने असली परिचित रूप में जनता के सामने आने में संकोच होता है और वे चाहते भी नहीं कि लोग कहे कि "अजी आप जैसे आदमी क्या लिखने के फेर मे पड़े।" ऐसी दशा में 'उपनाम' उन्हें इन बखेड़ों से बचाता है और उनकी लेखन-पिपासा शात करते हुए साहित्य को अच्छी रचनाओं से वंचित होने से बचाता है। हमारे समाज में हर तरह के लोग हैं। ऊँचे-नीचे पद पर आसीन कितने ऐसे व्यक्ति हैं जिनकी इच्छा लिखने की होती है। और यदि वे अपने अनुभव, अपनी अनुभूति, तथा विचार लिपिबद्ध कर दे तो साहित्य और समाज दोनों का महान् कल्याण हो। पर वे इस भय से नहीं लिखते कि लोग उन पर हँसेगे। कहेंगे, "यह आप के 'पद' को शोभा नहीं देता।" ऐसे लोगो को अवश्य 'उपमान' रखकर लिखना चाहिए।

उच्च श्रेणी का साहित्य लिखनेवाले भी कभी-कभी सरस, सरल वा साधारण विषयो पर अपना विचार प्रकट करना चाहते हैं परन्तु उन्हे सकोच होता है कि लोग उनकी हँसी उड़ावेंगे, उनपर आक्षेप करेंगे। इस भय से वे लिखते ही नहीं। ऐसी दशा मे उन्हे 'उपनाम' रखकर लिखना चाहिए। इस प्रकार का मेरा अपना अनुभव है। 'लिखना' आरम्भ करके सर्वप्रथम मैंने गंभीर विपयो का अध्ययन करके उन

पर लेख लिखना आरम्भ किया था। इस प्रकार सन् १९२३ से सन् १९३३ तक मैंने अपने असली नाम (सत्यजीवन वर्म्मा) से लिखता रहा। सन् १९३३ में जब लाहौर से 'भारती' नाम का मासिक पत्रिका निकलने को हुई तो उसके संपादकों ने आग्रह किया कि मैं कुछ 'सरस साहित्य' पर लिखूँ। मैंने उत्तर दिया कि इस प्रकार के विषयों से तो मैं बहुत दूर रहा और लिखते भी संकोच होता है। उनके बहुत आग्रह करने पर मुझे विवश होकर कुछ लिखने का वचन देना पड़ा। तकाज़े पर तकाज़ा होने लगा। वे चाहते थे कि मेरी रचना 'भारती' के प्रथमांक में छपे। मैं वचन देकर 'संकट' में पड़ा था। सोचता था लिखूँ तो कैसे लिखूँ। लोग जब देखेंगे कि कारक-चिन्हों की उत्पत्ति, तथा भाषा का विकास—आदि के लेखक,-अब 'हास्य', 'विनोद', तथा कहानी लिख रहे हैं तो वे बड़ी हँसी उड़ायेंगे। और 'भारती' के सपादकों का आग्रह था कि मैं ऐसी ही चीज़ लिखूँ जो सर्वसाधारण के योग्य हो। अन्त में जब मुझे कोई रास्ता न मिला तो मैंने 'उप-नाम' की शरण ली और मैंने 'श्रीभारतीय', नाम रख अपना 'गृहिणी' नामक शब्द-चित्र 'भारती' में प्रकाशनार्थ भेजा। रचना की सफलता और प्रशसा से प्रोत्साहित होकर मैंने फिर और बहुत सी कहानियाँ, प्रहसन आदि उनापम से लिखा जो हिन्दी के पत्र-पत्रिकाओं में बराबर निकलते रहे, इस तरह मैंने पूरे वर्ष भर तक अपना नाम 'गुप्त' रखा।

इस बीच में एक संपादक ने मुझे इसका भी प्रलोभन दिया कि वे मेरा पुरस्कार बढ़ा देंगे यदि मै अपना चित्र और असली नाम प्रकट कर दूँ। परन्तु मेरी हिम्मत न हुई और मैंने पुरस्कार का लोभ छोड़ कर साल भर तक 'अज्ञात' रहना ही उचित समझा। पीछे मेरा असली नाम प्रकट हो गया और अब यही उपनाम मेरा साहित्यिक नाम हो रहा है। अस्तु, मेरे अनुभव का साराश यह है कि 'उपनाम' रखकर हम अपनी दुर्बलता दूर कर सके तो ऐसा करके भी लिखना चाहिए। पाठको को अपने विचारो से वचित करना ठीक नहीं। हम नहीं जानते हम किस क्षेत्र में सफल हो सकते है। जिस प्रकार वर्ण-व्यवस्था का अभिशाप हमारी प्रतिभा के विकास में बाधक है उसी तरह कभी-कभी साहित्य में भी 'अपना विषय' हमें अन्य विषयों पर 'प्रयोग' वा अपनी प्रतिभा की आजमाइश करने से रोकता है। इसलिए 'उपनाम' रख कर हमें 'जाति-पाँति' का बखेड़ा हटाकर अपने भाग्य की परीक्षा करनी चाहिए। 'उपनाम' इस हेतु बड़ा उपयोगी है।

कुछ लोगों का 'नाम' उनके व्यवसाय की दृष्टि से उपयुक्त नहीं होता। उन्हें भी 'उपनाम' रखकर इस कमी को दूर करनी चाहिए। 'तख़्ता राम' यदि करुणरस-पूर्ण कविता करेंगे तो लोग आर्द्र होने की जगह हँसने लगेंगे। इसलिए अपनी रचना के विषय के अनुरूप नाम रखना ठीक होता है। साहित्य मे 'वस्तु' के अनुरूप 'उपनाम' रखना चाहिए, जो

सुगमता से स्मरण रखा जा सके, जिसमें उच्चारण की कठिनता न हो, जिसमें कुछ आकर्षण हो, जिसमें कुछ तात्पर्य हो। कवि लोग इसी हेतु सुन्दर-सुन्दर उपनाम रखते हैं।

लेखक अनेक विषयों पर लिखता है। उसे अनेक रूप में जनता के सामने आना होता है। एक नाम से यदि वह प्रत्येक प्रकार की रचना के रचयिता के रूप में पाठकों के सामने आता है तो पाठक उसके व्यक्तित्व की विभिन्नता पर कभी-कभी अज्ञात् रूप से खिन्न हो उठते हैं और उसकी रचना को बे-मन के पढ़ते हैं। लेखक की सफलता संदिग्ध हो उठती है। ऐसी दशा में उचित है कि लेखक कई 'उपनाम' रखे। रचना के विषय के अनुसार 'उपनाम' होना चाहिए। मैं स्वयं 'अष्टावक्र' के नाम से 'हास्य व्यंग, विनोद' लिखता हूँ, 'श्रीभारतीय' नाम से कहानियाँ आदि। मैं अनेक ऐसे लेखकों को जानता हूँ जो ऐसा करते हैं।

'उपनाम' रखने का एक सब से भारी लाभ यह है कि पाठक 'रचना' को पढ़कर उसके विषय में अपनी स्वतंत्र धारणा बनाते हैं। यदि अपनी रचना की स्वतंत्र निष्पक्ष आलोचना सुननी हो तो 'उपनाम' से लिखकर मित्रों के सामने रखिए। मेरी रचनाओं के विषय में जब लोग मुझ से उसकी इस प्रकार प्रशंसा करते थे मानो किसी दूसरे की लिखी हो तो उस समय मुझे बहुत संतोष और आत्म-विश्वास होता था। यदि उन्हें मालूम होता कि 'उपनाम'

धारी लेखक मैं ही था तो कदाचित् वे मित्र इस प्रकार न कहते वा कह पाते।

देखा गया है कि कभी-कभी 'पुरुष' ने 'स्त्री' का उपनाम रखकर लिखा है और 'स्त्री' ने पुरुषोचित उपनाम रखकर। लोग इसे बुरा समझते हैं। कभी-कभी यह बुरा भी है। परन्तु यदि रचना को ध्यान में रखकर ऐसा करना पड़ा है तो वह बुरा नहीं। साहस-पूर्ण आख्यानों की लेखिका यदि पुरुषोचित 'उपनाम' रखती है तो बुरा नहीं। स्त्रियोपयोगी विषयों पर यदि लेखक—महिलाओ के योग्य उपनाम रखता है तो बुरा नहीं। व्यवसाय मे सफलता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है। परन्तु हिन्दी में सपादकों की आँख में धूल झोकने के लिए यदि लेखक इसलिए लेखिका बनता है कि उसकी रचना छप जाय (क्योंकि संपादक महोदय लेखिकाओ पर विशेष कृपा रखते हैं) तो यह बुरा है। यह प्रश्न ही दूसरा है। ऐसे सपादको को प्रसन्न करना व्यर्थ है। उन्हें बहिष्कार का दण्ड देना चाहिए।

उपनाम चुनते समय बड़ी सावधानी और दूरंदेशी से काम लेना चाहिए। 'उपनाम' ऐसा हो जिसे बाद में बदलना न पड़े। दूसरी बात यह कि उपनाम रखते समय देख लेना चाहिए कि किसी और लेखक ने तो यही उपनाम नहीं रखा है। हिन्दीवालों को तो इसका पता लगाना कठिन होगा क्यो कि यहाँ 'हिन्दी-जगत्' नामक पुस्तक नहीं है, पर अंग्रेज़ी

में प्रत्येक Writers' Year Book में उपनामों की सूची रहती है जिससे लोग जान सकते हैं कि किस लेखक का क्या उपनाम है। हिन्दी में यदि ऐसी सूची हो जाय तो कितना सुबीता हो जाय।

१४

रचनाओं का नामकरण

पुरानी कहावत है "यथा नाम तथा गुणः"—अर्थात् जैसा नाम होगा वैसा गुण होगा। इस कहावत की सत्यता में चाहे किसी को शंका हो, परन्तु जैसा गुण हो वैसा ही नाम रखना चाहिए इसमें दो मत कठिनता से हो सकते हैं। जीवन के अन्य क्षेत्रो में इस सिद्धान्त की उपेक्षा की जा सकती है पर लेखन क्षेत्र में रचनाओ के गुण के अनुसार ही उनका नामकरण होना चाहिए—यह सफलता के लिए एक आवश्यक मन्त्र है। हिन्दी लेखको ने अभी इस 'नामकरण' संस्कार के महत्त्व को भलीभाँति नहीं समझा है। नामकरण संस्कार हमारे देश का एक प्राचीन संस्कार है—हम इसकी आवश्यकता से अपरिचित नहीं—यदि हैं तो उसकी आधुनिक उपयोगिता से।

हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित होनेवाली रचनाओ तथा आये दिन निकलनेवाली पुस्तकों के शीर्षकों पर यदि ध्यान दिया जाय तो इस बात का पता चलता है कि हमारे हिन्दी के शीर्षक आधुनिकता से बहुत पीछे हैं। हमारे

पाठकों की रुचि में तो बहुत परिवर्तन हो गया, पर हमारे लेखकों की रुचि अभी समय से बहुत पीछे है। फल यह हो रहा है कि रचनाओं के शीर्षक उतने आकर्षक, व्यंजक और कुतूहल-वर्धक नहीं होते जितने की उन्हें इस युग के पाठकों की मनोवैज्ञानिक अवस्था के अनुरूप होना चाहिए। लेखक की रचनाओं के विज्ञापक उनके शीर्षक ही होते हैं। पाठकों को अपनी ओर आकृष्ट करने के निमित्त शीर्षक का होना बहुत ही ज़रूरी है। बहुत ही कम पाठक इतने जिज्ञासु होंगे कि भद्दे शीर्षक को पढ़कर उस रचना को पढ़ने की लालसा रखें। इसके अतिरिक्त आकर्षक शीर्षक सम्पादकों को भी प्रभावित करता है। रद्दी शीर्षक वाली रचनाओं को 'सम्पादक' देखते ही अस्वीकृत कर देता हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि केवल अच्छे आकर्षक शीर्षक के ही भरोसे रचना स्वीकृत हो सकती है। नहीं, पर भद्दे शीर्षकवाली रचना की ओर सम्पादक का कम ध्यान जायगा—और छपने पर पाठकों का भी। कहने का सारांश यह है कि लेखकों को शीर्षक का चुनाव बड़ी सावधानी से करना चाहिए। इन रचनाओं के नामकरण संस्कार को उन्हें एक महत्त्वपूर्ण कार्य्य समझना चाहिए।

शीर्षक कितने प्रकार के हो सकते हैं, यह बतलाना कठिन है, पर साधारण रीति से उनके निम्नलिखित भेद किये जा सकते हैं, जैसे-

(१) वस्तु-वाचक शीर्षक ।
(२) प्रश्नात्मक शीर्षक ।
(३) आदेश-सूचक शीर्षक ।
(४) अनुप्रास-प्रधान शीर्षक ।
(५) अति-सूचक शीर्षक ।
(६) विस्यात्मक शीर्षक ।
(७) विज्ञापक शीर्षक ।
(८) सूक्ति-प्रधान शीर्षक ।
(९) एक-शब्द शीर्षक ।

१—वस्तु-वाचक शीर्षक—इस प्रकार के शीर्षक का उद्देश्य स्पष्ट शब्दों में रचना की वस्तु का ज्ञान कराना होता है। जैसे 'रामायण की कथा' 'कालिदास की निरंकुशता', 'चर्म बनाने के सिद्धान्त', 'हिन्दी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट ।'

२—प्रश्नात्मक शीर्षक—इस प्रकार के शीर्षको का उद्देश्य पाठकों को सम्बोधन करके उनका ध्यान आकृष्ट कराना होता है। जैसे—'क्या आप सौ वर्ष जीना चाहते हैं?', 'हम किस पर लिखें?', 'कहानी किस पर हो?' 'फिर निराशा क्यों?'—आदि

३—आदेश-सूचक—इस प्रकार के शीर्षक का प्रभाव तुरन्त पाठकों पर पड़ता है। पाठक के मन में जिज्ञासा उत्पन्न हो उठती है। उसके मस्तिष्क में 'क्यो?' घूम जाता है, और वह रचना को आद्योपान्त पढ़ने के लिए तैयार हो जाता

हैं। इस प्रकार के शीर्षक हिन्दी में कम देख पड़ते हैं। उनका नाम इस प्रकार होगा। जैसे—'फल अधिक सेवन कीजिए!', 'साधुओं से सावधान!', 'घर बैठे पैसा कमाइए!' इस प्रकार के शीर्षक वैज्ञानिक लेखकों के लिए विशेष रूप से उपयोगी होते हैं।

४—अनुप्रास-प्रधान—अनुप्रास में नैसर्गिक आकर्षण होता है। ऐसे शीर्षक पाठकों की ज़बान पर चढ़ जाते हैं। ये पढ़ने में अच्छे लगते हैं, परन्तु इस प्रकार के शीर्षक चुनते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि 'अनुप्रास' का प्रलोभन कहीं शीर्षक को अनुपयुक्त न बना दे। शीर्षक का मुख्य लक्ष्य रचना की वस्तु की सूचना देना होता है—इसकी सिद्धि करते हुए यदि शीर्षक सानुप्रास भी हो तो फिर क्या कहना—सोना और सुगन्ध!

अनुप्रास-प्रधान शीर्षक, कहानी, आलोचना, निबन्ध, हास्यरस-प्रधान रचना, कविता आदि के लिए बहुत उपयुक्त होता है। यों तो यह सभी प्रकार की रचनाओं के लिए काम आ सकता है—क्योंकि ऐसे शीर्षक आसानी से स्मरण रखे जा सकते हैं। ऐसे शीर्षकों के कुछ रूप इस प्रकार होंगे। जैसे—प्रेम-प्रपञ्च, रचना-रत्नाकर, पद्य-पयोनिधि, मालती-माधव, गोबर-गणेश संहिता, विवाह-विज्ञापन, तीन-तिलंगे सैलानी की सैर, प्रिय-प्रवास आदि।

५—भ्रांति-सूचक शीर्षक—'भ्रांति' में स्वतः आकर्षण

होता है। 'भारी भ्रम'—में 'भारी' विशेषण तुरन्त हमारा ध्यान आकृष्ट करता है और उसके रहस्य को जानने के लिए हमें सकुतूहल कर देता है। इसी प्रकार अति-सूचक विशेषण और भी आकर्षण रखता है। सर्वश्रेष्ठ, सर्वोत्कृष्ट, निकृष्ट, निम्न-तम आदि विशेषता जब किसी शीर्षक के आरंभ में होते हैं तब पाठकों का ध्यान तुरन्त उन रचनाओं के भीतर छिपी बातों को जानने के लिए जिज्ञासु हो उठता है। ऐसे शीर्षक अधिकतर समाचारों के बड़े काम के होते हैं। रिपोर्टरों के लिए ये विशेष रूप से उपयोगी होते हैं। जैसे—संसार का सब से बड़ा पहलवान, महान् भिक्षुक, नामी डाकू, प्रसिद्ध उड़ाका, एकमात्र उपाय, सब से ऊँची इमारत, संसार का सब से बड़ा नेता, आदि......।

६—विस्मयात्मक शीर्षक—विस्मयात्मक शीर्षक की उपयोगिता भी इसी में है कि वह पाठकों को आश्चर्य में डालकर उनकी जिज्ञासा जाग्रत करे। जैसे—साइकिल पर पृथ्वीपरिक्रमा! बिना पहिये की गाड़ी!, बिना शस्त्रों का शिकारी! ऐसे शीर्षक रखते समय इस पर ध्यान रखना चाहिए कि समस्त शीर्षक की शब्दावली में 'विरोधभास' का पुट हो। जैसे ईमानदार चोर!, सफेद खून!, सती वेश्या!, शरीफ बदमाश! आदि।

७—विज्ञापक शीर्षक—ये भी वस्तु-वाचक शीर्षक की श्रेणी ही में आते हैं पर इनमें अन्तर केवल इतना होता है कि

इनमें 'फल' पर अधिक ज़ोर दिया जाता है। जैसे—सोयाबीन से स्वास्थ्य अच्छा रहता है। वस्तुवाचक शीर्षक होगा—'सोयाबीन के गुण। परन्तु इसमें' 'स्वास्थ्य अच्छा रहता है'—रखने से वह अधिक विज्ञापक हो गया है। विज्ञापक शीर्षकों का उद्देश्य ही है, विज्ञापन करना। पाठक जितना ही शीघ्र इस रचना के महत्त्व को समझेगा उतना ही 'विज्ञापक' श्रेणी का शीर्षक सफल माना जायगा। विज्ञापक शीर्षक रखते समय पाठकों को कौन-सी बात 'तुरन्त' रुचेगी इस पर ध्यान रखना चाहिए। ऐसी दशा में लेखक को अपने पाठकों की रुचि और योग्यता तथा आवश्यकता का पूर्ण ज्ञान रखना चाहिए, अन्यथा वह यह न समझ सकेगा कि कौन-सी बात उसके पाठकों को उसकी रचना पढ़ने की ओर आकृष्ट करेगी।

८—सूक्ति-प्रधान शीर्षक—सूक्तियाँ, कहावतें और चलते हुए वाक्य आदि से जनता परिचित रहती है। उनके अर्थ और तात्पर्य से वह भलीभाँति अवगत होती है। इसलिए यदि सूक्तियाँ, कहावतें और चलते हुए वाक्य वा 'चरण' कभी शीर्षक के स्थान पर देख पड़ते हैं तो वे पाठकों को, परिचित होने के कारण, विशेष-रूप से घरेलू मालूम होते हैं और पाठक ऐसी रचनाओं की वस्तु के बारे में तुरन्त अपने मन में धारणा बना लेता है। और वह अपनी धारणा की सत्यता प्रमाणित करने के लिए उत्सुक हो उठता है।

फिर वह उसे अवश्य पढ़ता है। इस प्रकार के शीर्षक हिन्दी में देख पड़ने लगे हैं, पर उनका प्रयोग अधिकतर आँख मूँद कर हो रहा है। मुझे स्मरण है कि पहले-पहल किसी कहानी-लेखक ने अपनी कहानी का शीर्षक रखा था "दुखवा कासे कहौ मोर सजनी", बस अन्य लेखक उसकी नकल करने लगे। फिर तो बहुत-सी कहानियाँ, कविताएँ ऐसी देखने को मिलीं कि जिनका शीर्षक सूक्ति-प्रधान होते हुए भी—बहुत ही बेतुका और रचना के लिए बिल्कुल ही अनुपयुक्त था। हिन्दी-लेखकों मे नक़ल करने का दोष अधिक है, स्वयं सोच-समझकर काम करने की ओर उनका ध्यान कम जाता है। शीर्षक—रचना और लेखक के निजी दृष्टिकोण का परिचायक है। शीर्षक ही लेखक के लक्ष्य का बोधक है। ऐसी दशा में दूसरो के शीर्षक की नकल लेखक के समस्त परिश्रम पर पानी फेर देती है। सोचने की बात है—एक लेखक अपनी योग्यता के अनुरूप, अपने पाठकों के योग्य अपने परिश्रम से एक वस्तु तैयार करता है और वह उस वस्तु का परिचय दूसरे के शीर्षक से कराता है! दूसरे लेखक का शीर्षक उस लेखक के दृष्टिकोण को कैसे व्यक्त कर सकेगा? अपनी रचनाओ का शीर्षक स्वयं रखना चाहिए और अपने ढंग से।

१—एकशब्द शीर्षक—सब से छोटा शीर्षक एक शब्द का होता है। एक शब्द का शीर्षक रखते समय इस

पर ध्यान रखना चाहिए कि वही शब्द उस संपूर्ण रचना की कुञ्जी हो, उसी पर सारे विचार केन्द्रीभूत हों। जैसे एलबम, मुनमुन, कफ़न, ग़बन, कंकाल, परख, सन्यासी आदि—

ऊपर के विभाग न तो शीर्षकों के एकमात्र विभाग हैं और न शीर्षकों का विभाजन हो ही सकता है। लेखकों की रुचि के अनुसार सैकड़ों प्रकार के शीर्षक हो सकते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से हमें केवल इस बात पर ध्यान रखना चाहिए कि शीर्षक-रचना के प्रति पाठकों को आकृष्ट करे, और वे रचना की 'वस्तु' का परिचय दे।

———

१५

सफल पत्रकार

अभी थोड़े ही दिनों से हिन्दी में 'पत्रकार' शब्द का व्यवहार देखने में आ रहा है। पत्रकार और पत्रकार-कला—इन दो शब्दों के प्रयोग के सम्बन्ध में यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि हिन्दी-लेखको किंवा प्रकाशकों ने इन दो शब्दों के महत्त्व को हृदयंगम नहीं किया, अन्यथा हमारे सामयिक-साहित्य की यह हीन अवस्था न होती। किसी ने कहा है, "Newspaper is the dial of humanity's clock"—अर्थात् समाचारपत्र मानव समाज की घड़ी है। अपनी भाषा के पत्रों को देखते हुए कोई भी इस भुलावे में नहीं रह सकता कि हमारे लेखक, पाठक तथा प्रकाशक यथेष्ट उन्नति कर चुके हैं। इसका उत्तर-दायित्व किसी एक पर नहीं, वरन् हम सब पर है। लेखक के नाते हमें केवल अपने उत्तरदायित्व पर सर्वप्रथम विचार करना चाहिए।

पत्रकार-व्यवसाय की परिभाषा करते हुए लार्ड मोर्ले कहते हैं, "Journalism is literature in a hurry"

—अर्थात् चलता हुआ साहित्य उत्पन्न करना ही पत्रकार का व्यवसाय है। पत्रकार स्थायी साहित्य की सृष्टि करने के लिए नहीं है। वह सामयिक रुचि के अनुसार ऐसी वस्तु की सृष्टि करता है जिससे पाठकों का मनोरंजन हो सके, उन्हें लाभ पहुँचे। पत्रकार 'पत्रों' के लिए लिखता है। पत्रों का महत्त्व बतलाते हुए मिस्टर वी० कान्सटैन्ट कहते हैं—

"The press is mistress of intellegence, and intellegence is mistress of the world"

स्पष्ट है कि आधुनिक युग में ज्ञान-प्रचार के लिए 'पत्र' से बढ़कर अन्य कोई साधन नहीं। आधुनिक सभ्यता की गति की तीव्रता को देखते हुए कुछ लोग यह कहने पर तैयार हैं कि 'भविष्य का साहित्य समाचारपत्र ही होगा।' यदि हम विचारपूर्वक देखें तो उपर्युक्त भविष्यवाणी में बहुत कुछ 'सत्य' की मात्रा है। स्थायी साहित्य का आधार क्या है? उसका 'स्थायित्व' मानव जीवन से पृथक् नहीं किया जा सकता। इस युग की गति को देखते हुए, आये दिन नवीन आविष्कारों के होते हुए, कौन मानने को तैयार है कि आधुनिक युग का मनुष्य अपने आचारों, विचारों तथा विश्वासों आदि को लेकर बैठा रहेगा। उसे जब नित्य नयी परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा है, अपने बाहुबल से जब वह दिनो-दिन प्रकृति पर विजय पाता जा रहा है, जब उसकी उन्नति के मार्ग-बाधक—समय, दूरी, भौगोलिक परि-

स्थितियाँ आदि उसके लिए नगण्य सी होती जा रही हैं, तब ऐसी दशा में क्या मनुष्य के विचारों और विचारपद्धति में महान् परिवर्तन हुए बिना रह सकता है? कौन कह सकता है कि आज से पचीस या पचास वर्ष बाद का मनुष्य आज का सा ही मनुष्य रहेगा? पाश्चात्य देशों मे जैसी क्रान्तिकारी उन्नति हो रही है उसे देखते हुए कौन न मानेगा कि मनुष्य की सभ्यता तथा उसके आचार-विचार में अब इतनी तेज़ी से परिवर्तन होता जा रहा है कि समाज या सभ्यता के 'स्थायित्व' की कल्पना एक उपहास्य वस्तु समझी जायगी। यह अच्छा है या बुरा यह प्रश्न ही दूसरा है और यह हमारे लिए व्यर्थ भी है। हमे तो केवल इस तथ्य को स्वीकार करना है कि बहुत ही शीघ्र 'साहित्य मे स्थायित्व' कोई वस्तु नहीं रह जायगी और मानव समाज का कल्याण केवल वर्तमान या सामयिक साहित्य पर निर्भर होगा। ऐसे साहित्य का निर्माण 'पत्रकारों' के द्वारा होगा। क्या ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य के संपादकों का उत्तरदायित्व साधारण होगा?

मिस्टर ग्लीसन लिखते हैं, "Possibly no profession in the world is so difficult of entry as journalism"—अर्थात् पत्रकार-व्यवसाय के क्षेत्र मे प्रवेश पाना जितना कठिन है उतना अन्य के क्षेत्रों में नहीं। ऐसा क्यों? कारण स्पष्ट है कि विदेश के उन्नतिशील देशों मे पत्रकार का व्यवसाय एक महत्त्वपूर्ण व्यवसाय समझा

जाता है, जिसमें केवल परिश्रमशील उत्तरदायित्व समझने-वाले लोग ही प्रवेश पाते हैं। जहाँ के पत्रकारों पर देश की बड़ी-से-बड़ी समस्याओं को सुलझाने का भार रहता है, यदि वहाँ 'पत्रकार' एक उत्तरदायित्व पूर्ण पद की उपाधि समझी जाय तो इसे आश्चर्य न समझिए। ज़रा क्षण भर के लिए अपने हिन्दी-जगत् के पत्रकारों का ध्यान कर लीजिए। कितना जमीन आसमान का अन्तर है। हमने पत्र-कार-कला के दर्शन तक नहीं पाये, पत्रकार-व्यवसाय का महत्त्व ही नहीं समझा। केवल पाश्चात् देशों के पत्रकार-व्यवसाय के कुछ ओछे हथकण्डे और कलाबाज़ियों की झलक पाकर उसके आचार्य बन बैठे हैं। हमने इस 'अल्प-ज्ञान' का प्रयोग कर हिन्दी पत्र-जगत् को कितना गन्दा बना दिया, कितना घातक बना दिया ! इसीसे किसी ने कहा था—'A little knowledge is a dangerous thing'

यदि हम अपने देश, भाषा और पत्र-व्यवसाय का कल्याण करना है तो हमें पत्रकार-कला की आत्मा को सम-झने की चेष्टा करनी चाहिए। हमें केवल 'पत्रकार' उपाधि लिखकर अपने को सफल न समझना चाहिए वरन् 'सफल पत्रकार' कहलाने के योग्य बनने के लिए प्रयत्न भी करना चाहिए। 'सफल पत्रकार' के लिए प्रथम यह आवश्यक है कि वह अपने व्यवसाय में तैयार होकर प्रवेश पाने की इच्छा

रखे—यह नहीं कि जब कहीं भी ठिकाना न मिला अथवा जब और किसी काम के न निकले, तो चले पत्रकार बनने। मानों सब से आसान काम यही हो। यदि पत्रकार बनने की इच्छा हो तो उसके लिए तन-मन-धन से डट जाइये और 'सफल पत्रकार' कहलाकर (बनकर नहीं) ही दम लीजिए।

पत्रकार दूसरों के लिए लिखता है। अतः 'स्वान्तःसुखाय' श्रेणी के लेखकों के लिए पत्रकार-जगत् में स्थान नहीं। यदि आप अपनी रचनाएँ केवल अपने उद्गारों को लिपि-बद्ध करने के लिए करते हैं और उन्हें छपाकर केवल उन्हें टाइप में देखकर अपनी आँखे ठण्डी करना चाहते हैं तो आप चाहे सब कुछ बन जायँ पर 'पत्रकार' नहीं बन सकेंगे। मिस्टर ग्लीसन को एक 'पत्रकार' ने इसीलिए उपदेश दिया था—

'Do'nt write to please yourself Often, when you write what you consider to be an extremely original article, you write it because the subject interests you personally You do not bother your head about whether the subject is of interest to any particular editor or to the readers of some definite papers In these cases you are not working at your journalism, you are mere-

ly amusing yourself by spinning words together"

पत्रकार-व्यवसाय मज़ाक नहीं है कि जो जी में आया लिखा और उसे छपाने दौड़े। हमारे हिन्दी-जगत मे इसी कारण पत्रकारों और लेखकों की कृतियों का मूल्य नहीं आँका जा रहा है। पुरस्कार चाहे मिल जाय परन्तु पारिश्रमिक रूप से उनके पूरे परिश्रम का मूल्य नहीं मिलता। ऐसा तभी हो सकेगा जब हम 'स्वान्तः सुखाय' न लिखकर 'जन-हिताय' लिखा करेंगे। परन्तु इसके साथ-ही-साथ जब हमारे सामयिक साहित्य के कर्णधार—सम्पादक लोग भी इस बात को समझेंगे कि पत्र-पत्रिकाएँ पाठकों के लिए निकलती हैं और इसलिए उन्हें पाठकों की रुचि और आवश्यकता का पूरा ज्ञान रखना आवश्यक है। यदि ऐसा होगा तो निश्चय ही पत्रो का प्रचार होगा, बिक्री होगी और लेखक, सम्पादक तथा प्रकाशक सभी अपनी जीविका कमा सकेंगे।

पत्रकार-जगत् मे प्रवेश करने की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति को पहले अपनी भाषा और उसमें लिखने का पूरा अभ्यास कर लेना चाहिए। उसका व्यापक ज्ञान भी यथेष्ट होना चाहिए। यदि वह अपने विचारों को सुचारु रूप से प्रकट करना जानता है तो वह पाठको का मनोरंजन कर सकेगा, यह निश्चय है और पत्रकार के लिए कम-से-कम इतना होना परमावश्यक है।

सफल पत्रकार को पत्र-जगत् का पूरा ज्ञान रखना चाहिए। उसे यह जानना चाहिए कि उसके क्षेत्र में कितने पत्र निकल रहे हैं, उनकी नीति क्या है, वे किस विषय के लेख चाहते हैं, उनके पाठको की रुचि क्या है। पत्रकार के लिए दो व्यक्ति बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। सम्पादक और पाठक। संपादक भी उतना नहीं जितना कि पाठक और जनता। किसी पत्र का सम्पादक अपने पाठकों के मनोरंजनार्थ लेख की खोज में रहता है। और उसकी इच्छानुसार 'लेख' लिखकर संपादक को प्रसन्न करके 'पत्रकार' रुपये कमा सकता है। परन्तु यदि पत्रकार पाठकों की रुचि का अध्ययन करता रहेगा तो वह संपादक से पहले ही उसके पत्र के पाठको की आवश्यकता का अनुमान कर सकेगा और तब उसकी 'चीज़' निश्चय संपादक ख़रीद लेगा (हम हिन्दी-सम्पादकों की बात नहीं करते।) अतः पत्रकार की सफलता की कुञ्जी पाठकों के हाथ में है और पाठकों की रुचि स्थायी नहीं होती। यदि आज वे एक चीज़ पसन्द करते हैं तो कल दूसरी। इसीलिए मिस्टर ग्लीसन कहते हैं—"The newspaper reading public is fickle what it likes today, tomorrow it loathes A journalist has constantly to be learning new tricks if he is to please" अर्थात्—"पत्र पढ़नेवाली जनता की रुचि का ठिकाना नहीं। आज वह जिसे पसन्द करती है कल उसे देखना भी

नहीं चाहती। यदि पत्रकार उसे प्रसन्न रखना चाहता है तो उसे नित्य प्रसन्न रखने की नयी-नयी तरकीबें सोचते रहना चाहिए।"

स्पष्ट है कि लेखन-शैली में दिनों-दिन नवीनता लाना, नयी-नयी बातों पर लिखना, नये-नये तरीक़ों से किसी बात को कहना, आदि ही वे तरकीबें हो सकती हैं। जिस तरह एक वक्ता अपने श्रोताओं को मुग्ध करके उन्हें अपना संदेश सुना सकता है, उसी तरह पत्रकार यदि पाठकों से कुछ कहना चाहता है तो उन्हें प्रसन्न रखकर उनका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करके ही कर सकता है। नीरस, चमत्कार-हीन शैली में लिखा हुआ अच्छे-से-अच्छा विषय भी पाठक पढ़ना पसन्द नहीं करते। यदि आप चाहते हैं कि आपकी चीज़ कोई पढ़े तो आप को इसपर ध्यान रखना होगा कि वह क्या पढ़ना चाहता है और किस तरह की चीज़ पढ सकता है। पाठकों की योग्यता, उनकी अनुभूति, रुचि आदि का पूरा ज्ञान यदि पत्रकार को न होगा तो वह कभी भी अपनी रचना सर्वप्रिय नहीं बना सकेगा; और पत्रकार की सफलता उसके सर्वप्रिय होने ही पर अधिक निर्भर है।

जनता या पाठकों के समुदाय में नाना रुचि के लोग होते हैं। सबको प्रसन्न करना इतना आसान काम नहीं। यह असम्भव भी नहीं है, अन्यथा फिर 'पत्र' और 'पत्रकार' दोनों का अस्तित्व न होता। जनता की रुचि का अध्ययन

करने के लिए पत्रकार को 'सर्वाङ्गपूर्ण' होना पड़ेगा। लो वारेन (Low Warren) लिखते हैं—In a word the successful journalist must know something of every thing and everything of something Put more plainly, his duties require that he should have a well stored mind of general knowledge and a thorough knowledge of some particular subject—परन्तु उसका यह अर्थ नहीं कि सारा ज्ञान उपार्जन करके ही पत्रकार बनना सम्भव है। एक सफल पत्रकार ने कहा था, "मैं सब कुछ जानता हूँ यह कहना ही व्यर्थ है। परंतु मैं यह जानता हूँ कि जिसे मै नहीं जानता वह कहाँ ढूंढ़ने से मिलेगा।" अब यह प्रकट हो जाता है कि 'सफल पत्रकार' की जानकारी कम-से-कम इतनी अवश्य होनी चाहिए कि वह आवश्यकता पड़ने पर किसी विशेष 'विषय' का ज्ञान प्राप्त कर सके। अनुसंधान-वृत्ति, जिज्ञासा और परिश्रम से मनुष्य बहुत कुछ जान सकता है।

पत्रकार की शिक्षा के विषय में पाश्चात्य पत्रकार-कला के विशेषज्ञों का मत है कि आधुनिक शिक्षालयों की शिक्षा इसके लिए बिलकुल व्यर्थ है। उनके मत से
स्कूल की शिक्षा (हाई स्कूल या मैट्रिक) ?
है। उनका कहना है कि स्कूल की शिक्षा

पश्चात् एक नवयुवक इस योग्य हो जाता है कि वह 'पत्रकार-व्यवसाय' सीख सके। कॉलेज की शिक्षा समाप्त करने पर नवयुवक का मस्तिष्क इतना परिपक्व हो जाता है कि वह 'व्यवसाय' की बात सीख ही नहीं सकता। मिस्टर लो वारेन कहते हैं—'Experience proves that the successful journalist must be caught young It is difficult to train a man who looks at every thing from the academic standpoint and who knows not what discipline means

'In the majority of cases, therefore it would seem that the University Education is not only not an advantage, more often than not it is a positive drawback

पत्रकार-कला की शिक्षा देने के लिए पाश्चात्य देशों मे बहुत से स्कूल और कॉलेज खुले हैं, परन्तु इनसे केवल सिद्धान्तिक (Theoretical) ज्ञान प्राप्त होता है। सफल पत्रकार के लिए अपने अध्यवसाय का व्यवहारिक ज्ञान रखना ज़रूरी है। इस दृष्टि से मिस्टर वारेन का मत है कि सफल पत्रकार का स्कूल पत्र का दफ़्तर ही है। पत्रकार-व्यवसाय एक स्वतन्त्र व्यवसाय है, इसकी अपनी दुनिया होती है, जहाँ छोटे-बड़े सभी प्रकार की बुद्धि और योग्यतावालो के लिए स्थान है। सभी आवश्यक हैं और सभी अपनी रोटी

कमा सकते है। परन्तु पत्रकार-जगत् में सफलता उसी को प्राप्त होती है जो परिश्रम कर सकता है, बुद्धि रखता है, सोचता है, समझता है और समय तथा परिस्थिति के अनुसार विवेक से काम लेता रहता है।

सफल पत्रकार के लिए यह आवश्यक है कि उसकी जानकारी विस्तृत हो, उसमें तुरन्त लिखने की क्षमता हो और जो कुछ वह लिखे उसे लोग पढ़ें और विश्वास करे। इस हेतु उसे बराबर पढ़ते रहना होगा, सोचते रहना होगा और लिखने का अभ्यास करते रहना होगा। इसके साथ यदि वह अपने चरित्र का विकास करता रहेगा, दृढता, न्याय और सत्य-प्रियता पर दृढ़ रहेगा, अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्व के प्रति सावधान रहेगा तो निश्चय वह जनता का विश्वासपात्र होगा। आधुनिक युग में पत्रकार की ज़िम्मेदारी बहुत बढ़ी हुई है। जनता उसके हाथो का खिलौना बन सकती है। यदि वह चाहे तो अपने देश और जाति का बहुत कुछ कल्याण कर सकता है। पत्रकार की सफलता उसके देश के हितो की हानि से नहीं होगी, यह निश्चय है। सफल पत्रकार इसे कभी नही भूलता।



१६

कापीराइट कानून

कापीराइट क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व यह जानना चाहिए कि समाज में सम्पत्ति की कल्पना का आधार क्या है। प्रत्येक सभ्य समाज वैयक्तिक सम्पत्ति की रक्षा का विधान करता है। वास्तव में सम्पत्ति मनुष्य के 'परिश्रम' का स्थूल रूप है। मनुष्य अपने परिश्रम का फल सम्पत्ति के रूप में पाता है और प्राकृतिक नियम से अनुसार प्रत्येक प्राणी, चाहे वह मनुष्य हो, चाहे पशु, अपने परिश्रम के फल का उपभोग करना अपना अधिकार समझता है। सभ्य समाज का प्रथम लक्षण यही है कि वह व्यक्तियों के परिश्रम का फल उनसे छिन जाने से बचावे। सिद्धान्ततः यही सम्पत्ति और उसकी रक्षा का मूल आधार है।

सम्पत्ति का कोई एक रूप नहीं हो सकता—समाज की आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों के अनुसार सम्पत्ति का आकार-प्रकार बदलता आया है। जिस समाज को जिस वस्तु की अधिक आवश्यकता थी; जहाँ जो वस्तु प्राप्त

'कापीराइट' कहते हैं। यह अधिकार उसकी सम्पत्ति समझी जाती है और 'कापीराइट कानून' उसकी रक्षा करता है। कापीराइट वा रचयिता की सम्पत्ति की स्थापना कापीराइट कानून के अनुसार होती है, अतः जो क़ानून के अनुशासन के बाहर है, वह रचयिता की सम्पत्ति नहीं मानी जायगी। भिन्न-भिन्न देशों में अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार कापीराइट कानून का प्रचलन है। हमें भारतीय कापीराइट कानून का ज्ञान रखना आवश्यक है क्योंकि अधिकतर इसी से हमें काम पड़ेगा। भारतीय कापीराइट कानून का, जो इस समय प्रचलित है, सन् १९१४ ई० में निर्माण हुआ। उसके अनुसार कापीराइट अधिकार की सीमा इस प्रकार निर्धारित हुई है।

"इस विधान के सम्बन्ध में 'कापीराइट' का अर्थ है— अपनी रचना को प्रकाशित करने, संस्करण निकालने, उसको सम्पूर्ण वा उसके किसी अंश को तद्रूप वा किसी प्रतिरूप में करने, और अभिनय करने; यदि भाषण है तो उसे देने, उसे अंशतः वा सम्पूर्णतः प्रकाशित करने; यदि रचना अप्रकाशित है तो उसे पूर्णतः वा अंशतः प्रकाशित करने तथ निम्नलिखि [illegible] अधिकार [illegible] ी

अ [illegible]

की रक्षा की समस्या इतनी आवश्यक न समझी गयी थी। नवीन युग के आते ही पुस्तकों का छपना और वेचना एक व्यापार बन बैठा और ऐसी अवस्था में लेखक वा रचयिता की सम्पत्ति का अपहरण कर लोग उसे काफी हानि पहुँचा सकते हैं। इसी हेतु 'कापीराइट' की कल्पना का जन्म हुआ।

'कापीराइट' का साधारण अर्थ है—रचयिता का अपनी रचना पर पूर्ण अधिकार। इस अधिकार की स्थापना उसकी रचना की 'सृष्टि' के उपरान्त होती है। यदि रचयिता ने अपने विचार वा कल्पना को मूर्त आकार नहीं दिया तो उसकी सृष्टि नही हुई। इसी कारण केवल विचारों पर 'कापीराइट' नही माना जाता। 'कापीराइट' का अधिकार तभी स्थापित होता है, जब रचयिता अपने विचारों को स्थूल रूप देता है।

रचयिता शब्द का प्रयोग हम इसलिए करते हैं कि केवल लेखक वा ग्रन्थकार ही नही, वरन् स्वरकार, चित्र-कार, शिल्पी आदि—ऐसे सभी लोग जो अपनी कल्पना, भाव, वा विचारों को मूर्त रूप देते हैं—अपने परिश्रम के फल का पूर्ण उपभोग करने के अधिकारी हैं अतः सभी 'कापीराइट' के पात्र हैं। परन्तु उनका अधिकार तभी स्थापित होता है, जब उनके भाव मूर्त रूप में परिणत हो जायँ।

रचयिता की रचना पर उसके पूर्ण अधिकार को

कापीराइट वैयक्तिक सम्पत्ति है जिस प्रकार अन्यचल और अचल सम्पत्ति का उत्तराधिकारी समाज में प्रचलित रिवाज के अनुसार होता है, उसी प्रकार 'कापीराइट' का भी होता है। यदि लेखक अपनी रचनाओं के विषय में कुछ न लिख जायँ, तो उन रचनाओं का कापीराइट उसके उत्तराधिकारी की सम्पत्ति स्वतः मानी जायगी। कापीराइट कानून के अनुसार जब तक 'कापीराइट' का अधिकारी अपनी सम्पत्ति पर किसी को लिखकर अधिकार न दे दे, तब तक उसकी सम्पत्ति पर किसी का अधिकार नहीं माना जायगा।

कापीराइट का अनुशासन—रचयिता द्वारा अपने परिश्रम के फल—अपनी रचना—को पूर्ण रूप से उपयोग करने तथा उस सम्पत्ति का उपभोग करने के पूर्ण अधिकार को कापीराइट कहते हैं। यह अधिकार तथा इस नवीन सम्पत्ति की संस्थापना कापीराइट कानून के अनुसार वैध मानी गयी है।

कापीराइट वास्तव में रचयिता के परिश्रम के परिणाम की अपहरण से रक्षा करता है। यह परिश्रम उसका निजी परिश्रम होना चाहिए। रचयिता का परिश्रम उसका 'मानसिक परिश्रम' होता है, जिसकी सहायता से वह किसी 'मौलिक' रचना को जन्म देता है। परन्तु यह न भूलना चाहिए कि रचयिता का अधिकार वा कापीराइट तभी

(ख) रूपक है तो उसका उपन्यास बनाना अथवा उसे अन्य रूप देना ।

(ग) यदि उपन्यास है तो उसे 'रूपक' बनाना अथवा उसका अन्य उपयोग ।

(घ) साहित्यिक, रङ्ग-मच सम्बन्धी रचना का, यदि सङ्गीत हो तो उसका रेकार्ड बनाना, फ़िल्म आदि बनाना, जिससे उसका यन्त्रों द्वारा प्रदर्शन हो सके ।"

ऊपर गिनायी हुई बातों से प्रकट है कि कापीराइट का मुख्य उद्देश्य रचयिता के परिश्रम के फल की रक्षामात्र है । यही उसका 'स्वत्त्व' है और यही उसकी सम्पत्ति है । हम ऊपर कह चुके हैं कि कापीराइट क़ानून के अनुसार ही रचयिता की सम्पत्ति की स्थापना होती है और प्रत्येक देश का अपना-अपना क़ानून है । भारतीय कापीराइट क़ानून के अनुसार केवल वही लोग इसके अनुसार रक्षा पा सकते हैं—(१) जिनकी रचना का प्रथम प्रकाशन अँग्रेज़ी राज्य में हुआ हो । (२) जिसने रचना अँग्रेज़ी राज्य में रहकर तैयार की हो ।

स्पष्ट है कि भारतीय कापीराइट क़ानून द्वारा रक्षा पाने के हेतु रचना का सर्व प्रथम भारत मे प्रकाशित होना अथवा रचयिता का अपनी रचना भारत मे रह कर तैयार करना आवश्यक है ।

सार 'मौलिकता' रचयिया की लेखन-शैली और शब्द-विन्यास मे होती है। जो केवल दूसरो के शब्दो को लिखता है, वह मौलिक न माना जायगा और न वह रचयिता वा लेखक ही होगा।

'मौलिकता'—रचयिता के निजी परिश्रम का फल होती है। इसी हेतु उसकी रक्षा उसकी वैध संपत्ति मानी गयी है। इसी स्वतन्त्र परिश्रम की रक्षा करने के हेतु हाउस आफ लार्ड्स (House of Lords) ने वाल्टर बनाम लेन (Walter Vs Lane) के मुक़दमे में यह फैसला दिया कि यदि संवाद-दाता ने किसी के व्याख्यान की रिपोर्ट तैयार की तो वह रिपोर्ट उसकी मौलिक रचना है और उस पर उसका कापीराइट अधिकार है, क्योंकि उसे तैयार करने में उसे स्वतंत्र परिश्रम करना पड़ा और उसने उसे लिखने में अपनी मानसिक योग्यता से काम लिया। इससे यह स्पष्ट है कि जहाँ कहीं रचयिता अपनी स्वतंत्र मानसिक योग्यता से काम लेता हुआ किसी वस्तु को अपने ढङ्ग से, अपने शब्दो मे लिखता है, वहाँ उसकी रचना क़ानून के अनुसार 'मौलिक' मानी जायगी और उसपर उसका कापीराइट-स्वत्व स्थापित हो जायगा। इसी सिद्धान्त के अनुसार, सग्रह, संकलन, आदि पर रचयिता का कापीराइट स्थापित होता है। यद्यपि उसमे दूसरों की रचनाएँ होती हैं, परन्तु रचयिता का परिश्रम उन्हें एकत्र करने, तरतीब देने तथा उन्हे सुचारु रूप

स्थापित होता है, जब उसके मानसिक परिश्रम का परिणाम मूर्त रूप धारण करे। इसी हेतु केवल विचारों, भावों और सूझ पर 'कापीराइट' नहीं माना जाता। 'कापीराइट' स्थापित होने के लिए वे विचार साकार होने चाहिए। यदि लेखक है तो उसकी रचना लिपिबद्ध होनी चाहिए। यदि चित्रकार है तो उसकी कल्पना अङ्कित होनी चाहिए। इसी प्रकार अन्य रचयिता भी जब तक अपने भावों को मूर्त रूप नही देते, उनका 'कापीराइट' स्थापित नही होता।

कानून के अनुसार प्रत्येक मौलिक, साहित्य, सङ्गीत सम्बन्धी, रङ्गमञ्च सम्बन्धी तथा कलात्मक रचना मे रचयिता का कापीराइट स्थापित होता है। इन वर्गों की परिधि का ज्ञान कर लेना आवश्यक है।

'मौलिक'—यदि रचना मौलिक है तो वह कापीराइट क़ानून द्वारा रक्षा पा सकती है। यहाँ 'मौलिकता' से तात्पर्य भावों के अनूठे होने वा उनकी प्रदर्शन-शैली के अछूते होने से नहीं है। यदि वे 'भाव' रचयिता की भाषा में प्रकट किये गये हैं तो वे कापीराइट कानून के अनुसार 'मौलिक' समझे जायँगे। जिसकी भाषा मे विचार प्रकट हुए हैं, वही उसका रचयिता माना जायगा, क्योंकि 'भावो' को मूर्त रूप उसी ने दिया और वही उसका मौलिक रचयिता है। हम ऊपर कह चुके हैं कि 'भावों पर कापीराइट तब तक नहीं माना जाता जब तक वे लिपिबद्ध नही होते। कापीराइट कानून के अनु-

लित 'साहित्यिक' शब्द के अर्थ में अन्तर है—इसे समझना चाहिए। भाव-प्रकाशन की शैली वा तद्वत चमत्कार वा रसात्मक वाक्य-विन्यास से कापीराइट कानून के 'साहित्यिक' शब्द से कोई सरोकार नहीं। यदि यह होता तो फिर किसी रचना की रक्षा ही असम्भव होती क्योंकि यही निर्णय करना असम्भव होता है कि कौन सी रचना सचमुच 'साहित्यिक' है। क़ानून तो प्रत्येक रचयिता के परिश्रम के परिणाम को उसके लिए सुरक्षित सम्पत्ति बनाना चाहता है। इसी हेतु 'साहित्यिक' से उसने केवल इतना ही निर्धारित कर दिया कि रचना शब्दो में लिपिबद्ध हो वा मुद्रित हो। जिसके शब्दों में वह प्रकट हुई है, वही उसका रचयिता है अतःवह उसकी रचयिता है और वह उसकी 'साहित्यिक' रचना मानी जाय। इस श्रेणी में क़ानून की परिभाषा के अनुसार नक़शे, (chart, plan, table) और संग्रह वा संकलन आते हैं।

उपरोक्त सिद्धान्त के आधार पर व्यापारियों का सूचीपत्र और परीक्षा के प्रश्नपत्र तक 'साहित्यिक' माने गये हैं। अनुवाद, नोट, टिप्पणी, संक्षिप्तसंकरण, विज्ञापन आदि तक इसी श्रेणी में आते हैं। सङ्गीत सम्बन्धी रचनाओ को भी क़ानून संरक्षण देता है। इस प्रकार की रचनाओं में गीत और स्वर-लिपि आदि आते हैं तथा अभिनय सम्बन्धी रचनाओं में सिनेरियो, रूपक आदि। कलात्मक रचनाओं में रेखा-चित्र, रङ्गीन

से प्रकाशित करने में है। इसी प्रकार चित्रों आदि में भी समझिए।

'मौलिक' शब्द का ठीक तात्पर्य समझने के हेतु यह स्मरण रखना चाहिए कि क़ानून यह नहीं चाहता कि किसी के परिश्रम का कोई अनधिकार लाभ उठावे तथा उसे हानि पहुँचावे। ऐसी दशा में यदि किसी की रचना दूसरे की रचना के महत्त्व को हानि नहीं पहुँचाती तो वह चाहे उसकी नक़ल ही क्यों न हो, कापीराइट कानून से रक्षित होगी। वास्तव मे अक्षरशः 'मौलिकता' एक असम्भव सी बात है। सर्वतः मौलिक होना ही असम्भव है। समाज मे रहकर कोई दूसरों के प्रभाव से अछूता नहीं रह सकता। ऐसी दशा में एक दम 'अदृष्टपूर्वम्'—ऐसा मौलिक होना कल्पना के परे की बात होगी।

साहित्य में 'भावापहरण' अपराध हो सकता है परन्तु कानून से वही 'अपहरण' माना जायगा, जिससे 'मूल' को हानि पहुँचे, उसका महत्त्व नष्ट हो और उसे क्षति पहुँचे।

कापीराइट कानून 'साहित्यिक' रचनाओं का सरक्षण करता है। 'साहित्यिक' शब्द भ्रमात्मक होते हुए भी एक-मात्र शब्द है जिससे यह भाव व्यक्त हो सकता है। लिपिबद्ध, वा मुद्रित-विचार साहित्यिक माने जाते हैं। यदि वे लिखित नहीं हैं तो उन पर रचयिता का स्वत्त्व नहीं हो सकता। अतः, कापीराइट कानून की शब्दावली में 'साहित्यिक' और प्रच-

लित 'साहित्यिक' शब्द के अर्थ में अन्तर है—इसे समझना चाहिए। भाव-प्रकाशन की शैली वा तद्वत चमत्कार वा रसात्मक वाक्य-विन्यास से कापीराइट कानून के 'साहित्यिक' शब्द से कोई सरोकार नहीं। यदि यह होता तो फिर किसी रचना की रक्षा ही असम्भव होती क्योंकि यही निर्णय करना असम्भव होता है कि कौन सी रचना सचमुच 'साहित्यिक' है। क़ानून तो प्रत्येक रचयिता के परिश्रम के परिणाम को उसके लिए सुरक्षित सम्पत्ति बनाना चाहता है। इसी हेतु 'साहित्यिक' से उसने केवल इतना ही निर्धारित कर दिया कि रचना शब्दो में लिपिबद्ध हो वा मुद्रित हो। जिसके शब्दों में वह प्रकट हुई है, वही उसका रचयिता है अतःवह उसकी रचयिता है और वह उसकी 'साहित्यिक' रचना मानी जाय। इस श्रेणी में क़ानून की परिभाषा के अनुसार नक़शे, (chart, plan, table) और संग्रह वा संकलन आते हैं।

उपरोक्त सिद्धान्त के आधार पर व्यापारियों का सूचीपत्र और परीक्षा के प्रश्नपत्र तक 'साहित्यिक' माने गये हैं। अनुवाद, नोट, टिप्पणी, संक्षिप्तसंकरण, विज्ञापन आदि तक इसी श्रेणी में आते हैं। सङ्गीत सम्बन्धी रचनाओ को भी क़ानून संरक्षण देता है। इस प्रकार की रचनाओं में गीत और स्वर-लिपि आदि आते हैं तथा अभिनय सम्बन्धी रचनाओं में सिनेरियो, रूपक आदि। कलात्मक रचनाओ में रेखा-चित्र, रङ्गीन

चित्र, मूर्तियाँ वा (sculpture), कलात्मक यंत्रादि, फ़ोटो वास्तु और खुदाई के काम, आदि माने गये हैं।

कापीराइट रचयिता की सम्पत्ति है। हम ऊपर देख चुके हैं कि रचयिता का स्वतंत्र परिश्रम जहाँ-कहीं भी जिस रूप में हो, उस पर उसका कापीराइट माना जायगा। ऐसी अनेक अवस्थाएँ होती हैं जहाँ रचयिता का परिश्रम केवल संग्रह में होता है। ऐसी दशा में यह जानना चाहिए कि उसका अधिकार रचना के सम्पूर्ण रूप पर तो है पर उसके एक-एक अंश पर नहीं। वे दूसरों की कृतियाँ हैं। इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि कापीराइट-स्वत्त्व' का सम्बन्ध उस वस्तु से नहीं वरन् उसके उस आकार वा रूप से है। अतः यह समझना चाहिए कि कापीराइट स्वत्त्व' उस वस्तु से अलग है। अतएव किसी वस्तु वा रचना का अधिकारी होना उसके 'कापीराइट' का अधिकारी होना नहीं है।

कपीराइट की परिभाषा तथा सीमा निश्चित करते समय यह स्पष्ट कर दिया गया है कि कापीराइट का अनुशासन वहीं आरम्भ होता है, जब उस वस्तु वा रचना का प्रदर्शन वा प्रकाशन होता है। मान लीजिए किसी ने अपना बनाया चित्र बेच दिया। अब ख़रीदनेवाले को उस चित्र पर केवल इतना अधिकार है कि वह उसे अपने पास रक्खे, अथवा उसे बेच दे, परन्तु उसे 'प्रकाशित' करने का उसे अधिकार नहीं है। वह 'कापीराइट' अधिकार है, जो रचयिता की

अपनी सम्पत्ति है। इसी हेतु क़ानून, जहाँ कपीराइट का अधिकारी निश्चित करता है, वहाँ यह भी निश्चित करता है कि रचना को प्रकाशन करने का प्रथम अधिकार उसके रचयिता को ही है।

कापीराइट रचयिता की सम्पत्ति है। यह सम्पत्ति, उस रचना को प्रकाशित करने तथा उसका अन्य प्रकार से उपयोग करने का अधिकार है जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। यह अधिकार रचयिता की लिखित आज्ञा वा स्वीकृति से ही मिल सकता है, अन्यथा वह वैध न माना जायगा। यहाँ पर यह समझना चाहिए कि 'कापीराइट' अधिकार अनेक प्रकार के छोटे-मोटे अधिकारों का समाहार है और इसी हेतु उसका विभाजन हो सकता है। ऐसी दशा मे जितना अधिकार रचयिता लिखकर दूसरे को देगा, उतना ही दूसरे का हो सकेगा, अन्यथा नहीं। जो अधिकार लिख कर नहीं दिया गया है, वह मूल अधिकारी की सम्पत्ति होगी।

कुछ ऐसी परिस्थितियाँ हैं जब कि रचयिता की रचना पर उसका कापीराइट नही रह जाता ; जैसे यदि वह किसी के यहाँ नौकर हो और उसी अवस्था में उसने रचना की हो, अथवा किसी की आज्ञानुसार उसने रचना की हो— इन दोनों अवस्थाओ में यह प्रमाणित होना चाहिए कि रचयिता को इसका ज्ञान था कि उसकी रचना पर उसका

अधिकार जाता रहेगा, क्योंकि उसके बदले में उसे कुछ धन मिल रहा है।

यदि प्रकाशक की नौकरी करते हुए भी किसी ने अपने अवकाश के समय कोई पुस्तक लिखी वा कोई रचना की तो वह लेखक की सम्पत्ति होगी। ऐसी दशा में जब कि प्रकाशक ने लेखक वा रचयिता को इसी हेतु नौकर रक्खा है कि उसकी रचना पर उसका पूर्ण अधिकार होगा, प्रकाशक उसका पूरा अधिकारी होगा, परन्तु तभी जब कि रचयिता उसे अधिकार लिख कर प्रदान करे। परन्तु यदि प्रकाशक ने किसी विशेष रचना के लिए उसे कुछ धन देकर लिखने का समझौता किया है, तो वह रचना प्रकाशक की सम्पत्ति होगी। सारांश यह है कि कापीराइट :—

(१) निजी सम्पत्ति मानी गई है।

(२) उसका प्रथम अधिकारी रचयिता है।

(३) रचयिता की बिना लिखित स्वीकृति के यह किसी को नहीं मिल सकती।

(४) कापीराइट अधिकार विभाजित हो सकता है।

(५) जितना अधिकार लिखकर दिया जायगा उतना ही प्राप्त हो सकता है।

(६) बिना लिखे हुए अधिकार रचयिता का होगा।

(७) कापीराइट अधिकार अन्य सम्पत्ति की भाँति, अधिकारी के बाद उसके उत्तराधिकारी को मिलता है।

(८) कापीराइट अधिकार उस वस्तु से अलग है, जिस पर यह शासन करता है।

(९) कापीराइट अधिकार का अनुशासन 'प्रकाशन' के पश्चात होता है।

(१०) यदि किसी रचना का प्रदर्शन, अथवा प्रकाशन न हुआ हो तो यह अधिकार कापीराइट कानून का संरक्षण नहीं पा सकता।

कापीराइट अपहरण—सम्पत्ति का उपभोग उसके मालिक का सर्वप्रथम अधिकार है—यह कानून का पहला ध्येय है। कापीराइट एक प्रकार की सम्पत्ति है, परन्तु इस विशेष सम्पत्ति की सृष्टि कापीराइट कानून के द्वारा हुई है, अतः उसके अपहरण की बात उठाने के पूर्व उस सम्पत्ति की विशेषताओं और विचित्रताओं को समझ लेना चाहिए।

रचयिता का प्रथम अधिकार उसकी रचना पर कानून-सम्मत है। रचनाएँ दो प्रकार की होती हैं—प्रकाशित और अप्रकाशित। प्रकाशित से तात्पर्य उन रचनाओं से है जो जनता के लिए छापी गयी हो और जो सुलभता से जनता को—अमूल्य वा मूल्य देने पर—प्राप्त हो। केवल रचना का छप जाना, प्रकाशित होने का प्रमाण नही है, इसे अच्छी तरह समझना चाहिए। यदि किसी रचना की कुछ प्रतियाँ किसी विशेष प्रयोजन के लिए वा मित्रो में बाँटने के लिए छापी गयी हैं, तो वह रचना प्रकाशित नहीं

देख चुके। अब उसका अपहरण कैसे होता है इसे देखना है। कापीराइट का अपहरण तभी माना जाता है, जब 'अपहृत' वस्तु का प्रकाशन हो। यदि कोई अपनी नोट-बुक में किसी कापीराइट वस्तु की नक़ल करे तो वह अपहरण वा कापी राइट कानून का उलङ्घन न माना जायगा। 'प्रकाशित' होने के लिए अपहरण की हुई वस्तु का सर्व-साधारण में प्रचार वा प्रकाशन आवश्यक है। कापीराइट का अपहरण उन सभी कार्य्यों से होगा, जिससे रचयिता अपने स्वत्वो से वञ्चित किया जाय। कापीराइट अधिकार की सीमा हम प्रथम अध्याय में बतला चुके हैं। इस सीमा का उलङ्घन निम्न प्रकार हो सकता है :—

(१) समस्त रचना को अक्षरशः प्रकाशित करना।

(२) रचना के किसी अंश को अक्षरशः प्रकाशित करना।

(३) समस्त रचना की, उसके किसी अंश की 'नकल' वा प्रतिरूप प्रकाशित करना, उसे सम्पूर्ण वा अंशतः परिवर्तन सहित प्रकाशित करना जिसमें मूल की छाया स्पष्ट हो।

(४) सम्पूर्ण रचना वा उसके अंश का संक्षिप्त प्रकाशित करना।

(५) सम्पूर्ण वा अंश का अनुवाद प्रकाशित करना।

(६) सर्वसाधारण के लिए प्रदर्शन करना।

(७) 'रूपक' वा 'अभिनयात्मक रूप' बनाना ।
(८) उसके प्रदर्शन के लिए यन्त्रादि बनाना ।
(९) उसकी 'कापीराइट-उलङ्घित' प्रतियो का व्यापार करना ।

क़ानून की शब्दावली मे उपरोक्त 'उल्लङ्घन' को 'अपहरण' कहते हैं ।

प्रथम प्रकार का अपहरण कम देखने में आता है । लोग ऐसा इसलिए नहीं करते कि तुरन्त पकड़े जा सकते हैं । यदि कहीं ऐसी परिस्थिति हो तो यह देखना चाहिए कि इस प्रकार की 'अपहृत' वस्तु का प्रकाशन हुआ है अथवा नहीं । यदि नहीं, तो वह अपराध की सीमा तक नहीं पहुँचा । मान लीजिए, किसी ने श्रीयुत 'अ' की कापीराइट-पुस्तक की ठीक-ठीक नक़ल कर ली । परन्तु यदि इस प्रकार की 'नकल' का प्रकाशन नहीं हुआ है तो वह अपराध नहीं हुआ । अपने निजी काम के लिए किसी की पुस्तक की प्रतिलिपि करना जुर्म नहीं है । परन्तु यदि उसकी अनेक प्रतियाँ बनाकर वितरण किया जाय तो वह 'अपराध' होगा ।

दूसरे प्रकार का 'अपहरण' अधिक देखा जाता है । परन्तु इस प्रकार के 'अपहरण' को अपराध प्रमाणित करने के लिए यह साबित करना पड़ेगा कि जितना अंश लिया गया है, उससे मूल रचना को भारी हानि पहुँची है और उसका महत्त्व नष्ट हो गया है । यदि कोई आदमी अपने

अध्ययन के लिए किसी पुस्तक की नक़ल करता है, तो वह अपराधी नहीं है। इसी तरह समालोचना में, आलोचना में, स्वाध्याय के लिए, पत्र मे साराश छापने के हेतु यदि अंश का उद्धरण किया जाय तो वह अपराध नहीं हैं। स्कूली पुस्तकों के लिए किसी भी रचयिता की रचना से पाँच वर्ष के भीतर दो अंश लिए जा सकते हैं, परन्तु इससे अधिक लेना 'अपहरण' होगा और यह केवल 'साहित्यिक' रचनाओ के लिए वैध्य है। यहाँ एक बात स्मरण रखना चाहिए कि 'अप्रकाशित' रचना के लिए यह नियम नहीं है। अप्रकाशित रचना का प्रकाशन ही, यदि उसके मालिक की आज्ञा विना हुआ है तो, अपराध है।

स्वाध्याय आदि के लिए 'अपहरण' कहाँ तक क्षम्य है, यह ऊपर कह चुके हैं, परन्तु स्कूली पुस्तकों के लिए ये बातें जान लेनी चाहिए। किसी भी स्कूल की पुस्तक के लिए किसी की भी रचना के दो अंश पाँच साल के भीतर लिए जा सकते हैं। परन्तु यह याद रहे कि जिस पुस्तक से वह रचना उधृत की जाय वह स्वयं स्कूल के लिए न हो, और जिसमें ऐसी रचना उधृत की जाय, वह स्पष्ट रूप से स्कूल के लिए हो—प्रकाशक ने भी यह विज्ञापित किया हो और उक्त पुस्तक के मुख-पृष्ठ पर भी ऐसा ही लिखा गया हो।

जहाँ इस प्रकार किसी अंश का अक्षरशः प्रकाशन

होता है, वहाँ अपराधी अपनी सफ़ाई में दो बातें पेश करता है कि उसने वह अंश उसी जगह से लिया है जहाँ से वादी ने लिया था ऐसी अवस्था में यह प्रमाणित करना होगा कि प्रतिवादी ने वादी की पुस्तक का उपयोग नहीं किया। प्रतिवादी ने केवल प्राइवेट स्टडी के लिए वा आलोचना आदि के लिए, अथवा स्कूल की पुस्तक के लिए ऐसा किया है।

तीसरे प्रकार का अपहरण (नकल) बहुत प्रचलित है। परन्तु उसे पकड़ने के लिए यह प्रमाणित करना होगा कि प्रतिवादी ने 'वादी' की रचना का उपयोग किया है।

चौथे प्रकार का अपहरण (संक्षेप) प्रमाणित करने के लिए यह साबित करना होगा कि मूल पुस्तक की तरतीब, भाव, भाषा तीनों अपहृत प्रति में हैं और इस अपहृत प्रति के प्रकाशन से मूल को हानि पहुँचेगी।

पाँचवे प्रकार का अपहरण 'अनुवाद' करना है। भारत में अनुवाद न करने की अवधि दस वर्ष है। इसके पश्चात् अनुवाद का अधिकार सुरक्षित नहीं है।

छठे, सातवे प्रकार के अपहरण स्पष्ट हैं। आठवे प्रकार के अपहरण में फिल्म बनाना, रेकार्ड बनाना, आदि आता है। नवे प्रकार के अपहरण में वे लोग अपराधी माने जायँगे, जो इस प्रकार 'अपहृत' प्रतियो का रोज़गार करते हैं। कापीराइट क़ानून की धारा २ उपधारा २ के

अनुसार, यदि कोई व्यापार के लिए 'अपहृत' पुस्तक को बेचता है, बाहर से मँगाता है, वितरण करता है, अथवा उसका प्रदर्शन आदि करता है तो वह 'अपहरण' का दोषी समझा जायगा। यदि कोई इसकी सफाई दे कि उसे इसका ज्ञान नहीं था कि ऐसा नियम विरुद्ध है तो वह सफ़ाई मानी नही जायगी। क़ानून से अपरिचित होना क्षम्य नही है। हाँ, इस बात की अनविज्ञता क्षम्य हो सकती है कि प्रतिवादी को यह नहीं मालूम था कि ऐसा करना 'अपहरण' होगा। इस हेतु वादी को चाहिए कि मुकदमा दायर करने के पूर्व वह प्रतिवादी को 'नोटिस' दे दे।

ऊपर लिखी बातें 'साहित्यिक' पुस्तकों तथा रचनाओं के विषय में हैं जिनका प्रकाशन छाप कर ही होता है। अभिनय सम्बन्धी तथा कलात्मक आदि रचनाओं के सम्बन्ध मे हम आगे लिखेंगे।

कापीराइट का लेना-देना—अन्य सम्पत्ति की भाँति कापीराइट भी सम्पत्ति मानी गयी है, जिसका लेन-देन बिना लिखे-पढ़े क़ानूनी नही माना जाता। यदि रचनाकार किसी को अपनी प्रकाशित रचना का कापीराइट लिखकर नहीं दे जाता तो उसकी मृत्यु के पश्चात् उस पर उसके उत्तराधिकारी का हक़ होता है। अप्रकाशित रचना की पाण्डुलिपि यदि रचयिता किसी को लिखकर 'प्रदान' कर जाय तो उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका कापीराइट भी उसी

व्यक्ति का अधिकार समझा जायगा। मान लीजिए, देवदत्त शर्मा ने मरते समय अपनी सारी सम्पत्ति विष्णु शर्मा को लिख दी और अपनी रचना की पाण्डुलिपि कृष्ण शर्मा को लिख दी। ऐसी अवस्था मे कृष्ण शर्मा को उक्त पाण्डुलिपि पर पूरा कापीराइट अधिकार प्राप्त हो गया और वह इच्छानुसार उसे प्रकाशित करे और उसका उपयोग करे। प्रकाशित रचनाओं के विषय मे केवल इतना ही काफी नहीं है कि रचयिता ने कापीराइट का अधिकार लिख दिया है, वरन् देखना यह है कि कितना अधिकार और किस प्रकार का अधिकार लिखकर दिया गया है। कापीराइट अनेक अधिकारो का समाहार है अतः उसका विभाजन हो सकता है।

सम्पूर्ण कापीराइट का 'देना' कैसे प्रमाणित होता है ?—यदि रचयिता पूरा मूल्य या पारिश्रमिक लेकर अपनी रचना पर 'पूर्ण अधिकार वेचा' लिख देता है तो उस रचना का कापीराइट उसके हाथ से चला जाता है। प्रकाशक तथा लेखक के लिखित समझौते में दीवानी अदालत यह देखती है कि उनके शब्दो के भीतर उनका 'उद्देश्य' क्या था। जब एक लेखक प्रकाशक से पेशगी पाये हुए रुपयो के बदले उसे एक पुस्तक लिखकर देता है और अपना ऋण चुकाता है तो यही माना जायगा कि लेखक ने अपनी पुस्तक पर पूर्ण अधिकार प्रकाशक को दे दिया है। परन्तु यदि रचना पर 'पूर्ण अधिकार' सदा के लिए नहीं

दिया जाता तो उस पुस्तक का कापीराइट लेखक की सम्पत्ति मानी जाती है। जब कभी लेखक पुस्तक पर 'रायल्टी' पाता है तो किसी दशा मे भी वह प्रकाशक की सम्पत्ति नहीं मानी जा सकती और लेखक जब चाहे नियमानुसार अपना कापीराइट वापस ले सकता है।

कापीराइट का विभाजन निम्न आधार पर हो सकता है—(१) काल, (२) स्थान वा देश, (३) प्रकाशन विधि।

काल—जितने वर्षों तक लेखक चाहे कापीराइट दे; उसके बाद वह उसकी सम्पत्ति होगी। परन्तु इस काल की अवधि लेखक का जीवनकाल तथा उसके पश्चात् पचीस वर्ष से अधिक नहीं हो सकती। इसके बाद कापीराइट अधिकार उसके उत्तराधिकारी का होगा। इस नियम के अपवाद हैं। यह नियम केवल उन रचनाओं पर लागू होता है जिन पर पूर्ण अधिकार रचयिता का अकेला अपना हो।

देश—रचयिता अपनी पुस्तक के लिए देश निश्चित कर सकता है, परन्तु एक राज्य मे एक ही को वह अधिकार दे सकता है। श्रीयुत 'अ' अपनी पुस्तक 'भारत' का कापी राइट ब्रिटिश-भारत के लिए एक ही को दे सकते हैं, अन्य देशों के लिए दूसरे को। परन्तु यह तभी सम्भव होगा जब कि श्रीयुत 'अ' को अन्य देशों के क़ानून के अनुसार कापीराइट अधिकार प्राप्त हो चुका हो।

प्रकाशन-विधि—लेखक यह लिख सकता है कि उसकी पुस्तक किस भाषा में और किस रूप में प्रकाशित हो; उसका फिल्म बने, उसका रेकार्ड बनाया जाय, उसका अभिनय किया जाय, उसके अनुवाद छापे जायँ, आदि।

कापीराइट बेच देने पर भी रचना पर रचयिता का कुछ अधिकार रहता है। वह उसी की रचना मानी जानी चाहिए। क्योंकि क़ानून की धारा ६ उपधारा ३ के अनुसार जिसका नाम रचना के मुख-पृष्ठ पर 'रचयिता' के स्थान पर प्रकाशित होता है, वही रचयिता माना जाता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि प्रत्येक प्रकाशित प्रति पर रचयिता वा प्रकाशक का नाम छपना ही चाहिए। प्रकाशक का नाम प्रत्येक पुस्तक पर स्पष्ट छापना चाहिए—यह यद्यपि कापीराइट क़ानून का अनुशासन नहीं है, पर प्रेस-ऐक्ट की धारा ३ ऐसा करना आवश्यक बतलाती है। यदि कोई प्रेस इस नियम का उलङ्घन करता है, तो उसे प्रेस-ऐक्ट की धारा १२ के अनुसार क़ैद तथा जुर्माने की सज़ा दी जा सकती है। प्रत्येक पुस्तक के साथ प्रेस को एक 'वक्तव्य' या स्टेटमेन्ट देना पड़ता है, जिसमें लेखक वा रचयिता का नाम देना पड़ता है।

कापीराइट अधिकार देते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि रचयिता अपने पूर्ण अधिकार में से कितना अंश देना चाहता है और केवल उतना ही 'स्पष्ट'

अभ्यास करना चाहिए। मन में सोचिए—समस्त सम्भव बातों को और परिस्थितियों को। कभी-कभी वे हास्यप्रद प्रतीत होगी। पर उसकी चिन्ता न कीजिए। कभी-कभी-ऊटपटाँग विचार ही संसार मे क्रान्ति के उत्पादक हुए हैं। विचारो का गला घोटना ठीक नही। उन पर नियत्रण रखना उचित है। लोग कहते हैं कल्पनाशील व्यक्ति बे-बात-की-बात निकालते हैं; पर ऐसी बात नहीं है। बिना किसी विषय को अच्छी तरह जाने कोई उसके बारे मे कुछ भी कल्पना नहीं कर सकता। मनुष्य के अनुभूत-ज्ञान और उसकी मौलिक विचारशक्ति मे निश्चित सम्बन्ध सूत्र रहता है।

५—यदि कभी कल्पना उठे तो उसे अत तक ले जाना चाहिए। विचारों की शृङ्खला को आरम्भ कर किसी अत तक पहुँचाना चाहिए। अधूरे काम को छोड़ने की आदत बुरी है।

६—जिस काम को करो उसे सदा सोचते रहो। कभी-कभी अवकाश के समय कोई ऐसी बात सूझ जाती है जिससे उस कार्य्य मे सहूलियत हो जाती है। एकात मे बहुत से विचार उठते हैं—उनका उपयोग करना चाहिए। चिन्तन मानसिक शक्ति की सजीवनी है। यही सफलता की कुञ्जी है।

१८

प्रूफ-संशोधन

बहुत से हिन्दी के लेखक और कवि शायद प्रूफरीडिंग वा प्रूफ-संशोधन का नाम भी नहीं जानते। पर वास्तव में प्रूफरीडिंग एक कला है, जो संकेत-लिपि से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। समस्त पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ जो आप बाज़ारों में बिकती हुई देखा करते हैं वे अपने आप ही नहीं छप जाती। यह कम्पोज़ीटरों एवं प्रूफरीडरों के अविरल परिश्रम का फल है कि हमें पुस्तकों और अखबारों का एक-से-एक मनोहर रूप देखने को मिलता है। यदि प्रूफरीडरों को प्रेस के संचालन में कोई भाग न दिया जाय, तो शायद छपी हुई चीज़ों का जो रूप हमें दिखाई दे वह विचित्र हास्य की सामग्री बन जाय। प्रेस के कर्मचारियों को अँग्रेज़ी मे 'प्रेस का भूत' तो वैसे ही कहा जाता है, शायद जब प्रूफरीडरों के द्वारा छपाई का असंशोधित रूप जनता के सम्मुख जायगा, तो ईश्वर जाने कौन सी नई विचित्रतम उपमा का प्रयोग करना पड़े। इसलिए जितना अच्छा प्रूफरीडर होगा उतनी ही आकर्षक और शुद्ध पुस्तक छपेगी। प्रूफरीडर का मस्तिष्क एक भंडार

है जिसमें सभी तरह की जानकारी पड़ी रहती हैं और समय समय पर वह उनका उपयोग करता है।

पश्चिमीय देशों में प्रूफ़रीडिंग पर बहुत ध्यान दिया जाता है। वहाँ प्रूफ पढ़नेवालों को पर्याप्त वेतन (तनख़ाह) देते हैं और केवल कुशल प्रूफरीडर ही रखे जाते हैं। इस कारण विलायत में छपी पुस्तके जितनी शुद्ध और आकर्षक होती हैं उतनी हमारे यहाँ की छपी अभी तक नहीं हो सकीं। हो भी कैसे? यहाँ तो सस्ते-से-सस्ते प्रूफ़ पढ़नेवालो की माँग है; और यदि प्रेस के मेनेजरों का बस चले तो वे मुफ़्त में ही प्रूफ़रीडिंग कराया करें। हमारे यहाँ लोग समझते हैं कि जिसने पढ़ना-लिखना सीख लिया है वह प्रूफ पढ़ने का कार्य भी कर सकता है किन्तु यह विचार सर्वथा भ्रान्ति-मूलक है।

प्रूफरीडर की योग्यता कम-से-कम इतनी अवश्य होनी चाहिए कि जिस भाषा का प्रूफ उसको पढ़ना हो उस भाषा का वह अच्छा जानकार हो। उसका व्याकरण, हिज्जे वा वर्ण विन्यास, विराम चिन्ह आदि का तो उसे निपुण जान-कार होना चाहिए। साथ ही प्रायः सभी विषयों का साधा-रण ज्ञान होना चाहिए जिसमें किसी भी विषय की पुस्तकें उसको संशोधन के लिए मिले वह उनका उचित संशोधन कर सके। यदि वह ऐसा न होगा तो बहुत सी गलतियाँ छूट जाने की सम्भावना है। हमारा मतलब यह नहीं कि वह

सर्वविद्यापारंगत हो। लेकिन फिर भी यदि उसे लेखन-कला के प्रत्येक अंग का थोड़ा बहुत भी ज्ञान न होगा तो वह अच्छा प्रूफरीडर कैसे हो सकता है। प्रूफ़ पढ़ना इतना साधारण काम नहीं है कि उसे सभी मनुष्य कर सकें। इसके लिए जो जितना ही अधिक पढ़ा-लिखा होगा वह उतनी ही अधिक कुशलता से प्रूफ पढ़ सकेगा। इसके अतिरिक्त विशेष ज्ञान भी उसके लिए आवश्यक है। चित्रकला का भी उपयोग 'मेकअप' में करना पड़ता है। अतः प्रूफरीडर यदि चित्रकला से प्रेम रखता हो तो और भी अच्छा। इससे वह छपाई को बढ़िया आकार प्रदान कर सकेगा। प्रूफरीडर की दृष्टि को जितनी ही तीव्र और छिद्रान्वेषिणी होनी चाहिएं उतनी ही उसमें सहनशीलता और धैर्य की क्षमता भी अपेक्षित है। कभी-कभी जब रद्दी और गन्दा प्रूफ सामने आता है, उस समय सचमुच कम्पोज़ीटर पर बेहद झल्लाहट आती है। ऐसे समय यदि प्रूफरीडर ने सहनशीलता वा धैर्य से काम न लिया तो वह पुस्तक कभी भी छप सकेगी—यह संदिग्ध ही है।

प्रूफ़रीडिंग की कला के सम्बन्ध मे कुछ जानने के पूर्व यह जानना परमावश्यक है कि प्रूफ हैं क्या चीज़। जो कुछ हम छपने के लिए प्रेस में देते हैं उसे कम्पोज़ीटर लोग टाइपों में कम्पोज़ करते हैं। यह सब कम्पोज़ करके बहुत सी गेलियों में रक्खा जाता है और स्याही लगाकर मामूली काग़ज़

पर हाथ से ही छाप लिया जाता है। इसे प्रूफ या गेली प्रूफ कहते हैं। याद रहे, जो कुछ प्रेस से संशोधन के लिए छप-कर आता है, वही प्रूफ कहलाता है। कम्पोज़ीटर लोग कम पढ़े-लिखे होते ही हैं इसलिए कम्पोज़ करने में बहुत सी गलतियाँ उनसे छूट जाती हैं। इनके संशोधन के लिए कुछ संशोधकों की आवश्यकता पड़ती है, जो प्रूफरीडर कहलाते हैं। गेली प्रूफ संशोधित हो जाने पर एक बार प्रूफ लेखक या सम्पादक के पास भेजा जाता है। वहाँ से लौटकर आने पर सब मैटर पृष्ठों में बाँटा जाता है। इसे 'पेज़ बाँधना' या 'मेकअप' करना कहते हैं। 'मेकअप' फर्मा फिर लेखक या सम्पादक के पास छापने की आज्ञा (प्रिंट आर्डर) लेने के लिए भेजा जाता है उसका संशोधन करके लेखक या सम्पा-दक छापने की आज्ञा या 'प्रिंट आर्डर' देता। इसके बाद वे गलतियाँ सही की जाती हैं और प्रूफरीडर को फिर पढ़ने के लिए प्रूफ दिया जाता है। इसे 'रिवाइज़' कहते हैं इसके बाद वह प्रेस में छपने को दिया जाता है। पश्चात मुद्रित रूप में वह हमारे सामने आता है।

पुस्तक या लेख शुद्ध छपवाने के लिए पाण्डुलिपि को पूर्णतया दुरुस्त करके देना चाहिए। कोई बात प्रूफ में ठीक करने के लिए नहीं रख छोड़नी चाहिए। यहाँ तक कि 'कामा' पाई भी ठीक-ठीक लगाकर भेजना चाहिए। उस पर भी यदि कुछ चीज़ें छूट जायें तो उन्हें 'गेली-प्रूफ' मे ही

संशोधन कर देना चाहिए। 'मेकअप' प्रूफ़ में एकाध ही लाइन बढ़ने से सारी पेज-बन्दी तोड़नी पड़ती है। इसे प्रेस की भाषा में 'मैटर चालना' कहते हैं। उससे कम्पोज़ीटर का काम बहुत बढ़ जाता है और साथ-ही-साथ छपाई का ख़र्च भी बढ़ जाता है।

गेली प्रूफ़ पाण्डुलिपि से मिलाकर पढ़ना चाहिए। इसके लिए नियम यह है कि एक आदमी तो जिसे कापी-होल्डर कहते हैं, पाण्डुलिपि को चिल्लाकर पढ़ता जाय और प्रूफरीडर उसे सुनता जाय और प्रूफ को सही करता जाय। प्रूफ़रीडर को जो संशोधन करना हो उसे दोनों तरफ़ हाशिए में लिखना चाहिए। पहले तो बायी तरफ़ से आरम्भ करे और अधिक ग़लतियाँ होने पर दाहिनी तरफ़ तक मार्क करता जाय। प्रत्येक संशोधन के बाद उसके दाहिनी ओर एक तिरछी लाइन खींच देते हैं। यह लाइन दो संशोधनो को अलग करने के लिए खींची जाती है। यह सब कुछ होते हुए भी हर एक प्रूफ़रीडर की अपनी शैली होती है। यदि प्रूफ़ में गलतियाँ कम हों तो किसी तरह भी निशान लगाए जायँ कुछ हर्ज़ नहीं होता लेकिन यदि अशुद्धियाँ ज़्यादा हो तो लाइन खींच कर निशान बनाने मे एक दूसरे से लाइन कट जाने के कारण गड़बड़ी पड़ती है। जब हाशियों मे कहीं भी जगह नहीं रहती तब लम्बी लाइनें खींचकर जहाँ जगह होती है वहीं पर संशोधन लिख दिया जाता है।

उ/र/ब/न   स नी निशा में मुझे ऐसा जा   1
पड़ा मानो कोई दूर पर सिसक रहा हो। क
आह ! मुझे सुनाई स्पष्ट पड़ता था। पर यह
ध्वनि तो मानो किसी बालक की थी।   4
run on रोते हुए बालक की कल्पना ने मुझमें
न जाने कितनी स्मृतियाँ जाग्रत कर दीं उस
समय मुझमें कितना वात्सल्य प्रेम था
विधाता की प्रवंचना ने उसे प्रस्फुटित में   8
होने का अवसर ही न दिया था। पत्थर
से दबे हुए बीज की भाँति वह ऋतु
आने पर केवल अँसुआ कर ही रह गया
धीरे धीरे सिसकना मानो मेरी कुटीर   12
के समीप आता जाता था। ऐं ! क्या कोई मेरी
टट्टी पर हाथ रख रहा है यह कौन सा
आश्रय चाहता है ? खोल दूँ क्या ? वह
बोला, मैं सर्दी से ठिठुर रहा हूँ।"   16
मैंने दौड़कर टट्टी हटा दी। दीपक की
मन्द ज्योति में मैंने देखा बालक की मू
र्ति अत्यन्त सौम्य थी उसके कोमल और
कपोलों पर अश्रु-बुन्द मोती की भाँति   20
चमक रहे थे। मैंने दौड़ कर उसे गोदी
में उठाकर पूछा, "पुत्र तुम कौन हो ?
कहाँ से आते हो"
प्राणी है जो यहाँ आज   मुनमुन में   24

चित्र—२

शीर्षको आदि का उचित स्थान; छपाई का सौन्दर्य; ब्लाक आदि की ठीक जगह; उचित नम्बर के टाईपो का प्रयोग जिनसे छपाई सुन्दरतम जँचे इत्यादि, इत्यादि। यदि मनुष्य सरस हो तो नीरस विषय को सरस बना लेना कुछ कठिन नहीं है। हमारा विचार है कि प्रूफ़ पढ़ना एक प्रकार से तपस्या करना है जिसमे अपनी रुचि उसी विषय की ओर लगा देनी पड़ती है जिसका प्रूफ़ पढ़ना है चाहे वह विषय अपने लिए अरुचिकर ही क्यो न हो; यही कठिनाई उसमें है।*

* यह लेख श्रीमहेन्द्रनाथ जी पाण्डेय की रचना है। आप 'लेखक' के सहकारी सम्पादक थे।

—भा०

स्वान्तस्सुखाय !

हम लिखते हैं स्वान्तस्सुखाय ! और लिखेंगे स्वान्तः सुखाय ! इस सुख का अनुभव वही कर सकता है, जो लेखक है, जो लिखता है। पैसों के लिए लिखनेवाले पैसा भले ही पा लें पर वे उस सुख से वञ्चित रह जाते हैं, जो साहित्य-सेवी का विशेष अधिकार है।

साहित्य अमर है। साहित्यकार भी अमर होता है। ऐसा क्यों ? एक प्रसिद्ध लेखक का कथन है :—'साहित्यकार (लेखक) अपने विचारों का बीज सर्वत्र छिटक देता है—महलों में, सड़कों पर भी। ये उगते हैं, बढ़ते हैं, फल लाते हैं। कब ? जब बोनेवाले का अस्तित्व नहीं रह जाता—वह पञ्चभूत में मिल जाता है—उसकी कीर्ति-स्मृति भी कदाचित् लुप्त हो जाती है। ऐसे कितने होंगे जो सदा स्मरणीय रहेंगे ? परन्तु प्रत्येक लेखक के विचार अमर हैं; वे जीवित रहते हैं—विचारों के संसार में, जो मानव जाति की एक-मात्र अमर सम्पत्ति है।'

इसीसे हम कहते हैं कि 'लिखना', अपने विचारो को लिपिबद्ध करना नैसर्गिक प्रेरणा है। इस स्वर्गीय संस्कार को सोने न देना चाहिए। —श्रीभारतीय

मुद्रक—रामप्रसाद, शारदा प्रेस—प्रयाग